

ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग
सहजानंद शास्त्रमाला
ज्ञानार्णव प्रवचन
तृतीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चना जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	4
श्लोक-133	1
श्लोक-134	2
श्लोक-135	3
श्लोक-136	4
श्लोक-137	6
श्लोक-138	7
श्लोक-139	8
श्लोक-140	10
श्लोक-141	11
श्लोक-142	14
श्लोक-143	15
श्लोक-144	17
श्लोक-145	20
श्लोक-146	23
श्लोक-147	25
श्लोक-148	26
श्लोक-149	27
श्लोक-150	28

श्लोक-151	29
श्लोक-152	29
श्लोक-153	30
श्लोक-154	30
श्लोक-155	32
श्लोक-156	34
श्लोक-157	34
श्लोक-158	37
श्लोक-159	38
श्लोक-160	39
श्लोक-161	40
श्लोक-162	42
श्लोक-163	43
श्लोक-164	44
श्लोक-165	45
श्लोक-166	48
श्लोक-167	49
श्लोक-168	50
श्लोक-169	51
श्लोक-170	52
श्लोक-171	54
श्लोक-172	57
श्लोक-173	59
श्लोक-174	59

श्लोक-175	61
श्लोक-176	62
श्लोक-177	65
-संवर भावना-	71
श्लोक-178	71
श्लोक-179	72
श्लोक-180	73
श्लोक-181	75
श्लोक-182	77
श्लोक-183	78
श्लोक-184	81
श्लोक-185	83
श्लोक-186	84
श्लोक-187	87
श्लोक-188	88
श्लोक-189	89
निर्जरा भावना	92
श्लोक-190	92
श्लोक-191	93
श्लोक-192	94
श्लोक-193	95
श्लोक-194	97
श्लोक-195	99
श्लोक-196	99

श्लोक-197	103
श्लोक-198	106

ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग

प्रवक्ता:-

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य 105 श्री क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महारा

श्लोक-133

महाव्यसनसंकीर्णं दुःखज्वलनदीपिते।

एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले॥133॥

भवमरुस्थल में जीव का एकाकी भ्रमण—यह आत्मा महान् आपत्तियों से भरे हुए और दुःख की ज्वालाओं से जाज्वल्यमान् संसाररूपी मरुस्थल में अकेला ही भ्रमण करता है। यह संसार मरुस्थल की तरह है। जैसे मरुभूमि में मनुष्यों का पता नहीं, वृक्ष तक भी नजर नहीं आते, केवल एक नीरस धूल ही धूल पड़ी हुई है, पानी का भी निशान नहीं। जहाँ अत्यन्त दीप्त ज्वालाएँ लपटे चला करती हैं, ऐसे मरुस्थल की तरह यह संसार है। इसमें भी अपना कोई सहारा नहीं। किसी की छत्रछाया भी यहाँ काम नहीं करती। साथ ही अनेक प्रकार के कष्टों की ज्वालाएँ यहाँ भरी हुई हैं, ऐसा दुर्गम यह संसारमरुस्थल है। इसमें यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है।

शरीर का अन्त में टकासा जवाब—भैया ! जिस शरीर को इतना जीवन में खिलाया, हिसाब लगाओ तो जिसकी 60-70 वर्ष की उमर है, करीब-करीब एक बैगन भर भोजन खा लिया होगा। जिस शरीर को नाना रसीले व्यंजन बना-बनाकर खिलाया, बड़े श्रम कर करके जिसे पुष्ट किया है उस शरीर से विदा होते समय यह जीव, यह मनुष्य कहता है कि अरी काया, इस समय और सब कुछ छूटा जा रहा है, छूटने दो, हमने उनका कुछ किया भी नहीं, लेकिन तुम्हारी तो हमने बड़ी फिक्र रक्खी। रात दिन कुछ नहीं गिना। रात में भी खाया, दिन में सूर्योदय से पहिले से ही चाय होना, थोड़ी देर बाद नाश्ता होना, भोजन होना और नवीन-नवीन प्रणाली के बिस्कुट हैं, और कैसे-कैसे ढंग से रात दिन खूब खिलाते पिलाते रहे, खूब सेवा की तेरी, तुझे श्रृंगार से सज धज से रक्खा, बढ़िया कपड़े पहिनाये, नाना तरह के गहने पहिनाये, बड़ा साज श्रृंगार सजाया, अब हे काया, तू तो चलेगी ना साथ? और तो कोई चल नहीं रहे। तब काया का उत्तर यही होता है कि अरे बावले जीव ! तुझे कुछ होश नहीं है, तू बेहोशी में बातें करता है। अरे मैं बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर और बड़े-

बड़े पुरुषों के साथ नहीं भी गयी। तू तो एक तुच्छ किंकर-सा है। उसकी तो यह आन बान है कि साथ नहीं जाता।

जीव का सर्वत्र एकाकीपन—यह जीव इस संसार में जहाँ कष्ट ही कष्ट भरे हुए हैं अकेला ही भ्रमण करता है। मरने पर भी अकेला ही है और जीवन में भी अकेला ही है। कुछ त्रुटि बन जाय, कुछ विकल्प हो जाय, कुछ भावना बने, उन सबका जो कुछ परिणाम होता है उसे वह अकेला ही भोगता है। यह संसार मार्ग में भी अकेला ही है और मुक्ति के मार्ग में चले तो वहाँ भी अकेला ही है। यह जीव अकेला ही अपने कर्म करता है और अकेला ही कर्मों के फल को भोगता है।

श्लोक-134

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा॥134॥

संसारी जीव के अकेलेपन का विवरण—इस संसार में यह आत्मा अकेला ही अपने पूर्व कर्मों के सुख दुःख रूप फल को भोगता है और अकेला ही सारी गतियों में एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता रहता है, यह है इसकी चर्या। जैसे कोई पूछे साहब आपकी दिनचर्या क्या है, ऐसे ही इन संसारी जीवों से पूछो तेरी चर्या क्या है? तो उनकी चर्या क्या है सुन लो। कुछ से कुछ अटपट विकल्प करना और उन विकल्प कर्मों से जो कर्म-बन्धन हुआ है उसके उदय काल पर उन विषयकषाय भोगों का भोगना। करना, भोगना, मरना, जीना इसके चार बड़े प्रोग्राम हैं।

संसारी जीव की चर्या—सुन लो भैया ! यह संसारी प्राणी अपनी दिनचर्या बता रहा है। सब कुछ इन चारों बातों में आ गया—करना, भोगना, मरना, जीना। एक शरीर छोड़ा दूसरा शरीर धारण किया, यही करता चला आया यह जीव और ये चारों के ही चारों क्रम से नहीं, एक साथ ये चारों चल रही हैं। जिस समय कुछ कर रहे हैं उस ही समय भोग भी रहे हैं और प्रत्येक समय हम जीवित रहते हैं और मरते जाते हैं। जैसे आयुक्षण का उदय हुआ वह तो जीना है, पर उदय के साथ क्षण भी तो निकला, वह इसका मरना है। कोई कई काम एक साथ कर सकता है क्या? क्रम से काम करेगा। संसारी प्राणी की आप चर्या पूछते हैं ना? तो यही है वह चर्या। करना, भोगना, जीना, मरना और वे भी सब एक साथ चल रहे हैं।

करनी और भरनी में अकेलापन—अपने कर्मों से रचे हुए शुभ अथवा अशुभ फल को भोगने के लिए यह जीव अकेला ही नवीन-नवीन शरीरों को धारण करता रहता है। पाप कर्म किया, तीव्र पापकर्म किया तो उसका फल भोगने के लिए नरक जैसे नये शरीरों को ग्रहण करना होगा। पुण्यकर्म किया, विशेष पुण्यकर्म किया तो उसके फल को भोगने के लिए देव जैसे नये शरीर को ग्रहण करना होगा। फिर किए शुभ अशुभ फलों को भोगने के लिए यह जीव नये-नये शरीरों को ग्रहण करता है। शरीर पुराना हो गया, बूढ़ा हो गया, जीर्ण हो गया, इन्द्रियाँ थक गयी, चल उठ नहीं पाते, ऐसी स्थिति में इस जीव को इस बात में खुशी तो होनी चाहिए थी कि अब इसे नया शरीर मिलेगा रंगा चंगा, लेकिन कोई मनुष्य इस बात में खुशी नहीं मानता। जैसा भी मिला हो उस ही शरीर उसकी शरीर में तो पर्यायबुद्धि है, अन्य बात कैसे सोच सकें? बाह्य बात कुछ भी सोचे उससे उठता क्या है? जैसा यह चाहता वैसा होता कहाँ है? किस लिए शुभ अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए इस जीव को नया शरीर धारण करना होता है। वह भी अकेले। अकेला ही करना, अकेला ही भोगना, अकेले ही शरीर ग्रहण करना और अकेला ही इस शरीर से विदा हो जाना।

जीव का एकाकित्व—यह एकत्वभावना का प्रकरण है। सर्व भावनाओं में सीधी सुगम बलशाली यह एकत्वभावना है। एकत्व के सम्बन्ध में हम बहुत-बहुत गहरा विचार तक बना सकते हैं। यह अकेलापन तो एक मोटेरूप से व्यवहार में बताया है। यह आत्मा स्वयं एकत्व स्वरूप को लिए हुए है वह अकेला स्वरूप कैसा है? जैसा यह सहज है, ज्ञान ज्योतिर्मय है, ज्ञान शक्तिस्वरूप है, तैसा यह अकेला है। इसमें उपाधि का बन्धन नहीं है। स्वभावदृष्टि से तको तो यह आत्मा केवल एक अपने स्वरूपमात्र है। ऐसी एकत्व की दृष्टि जिन योगीश्वरों के जगी है वे इस एकत्व की रुचि के प्रसाद से सर्व उपाधियों को समाप्त कर डालते हैं।

श्लोक-135

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम्।

निर्विशत्यमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः॥135॥

स्वर्गसुख में भी अकेलापन—यह जीव अकेला ही स्वर्गों की शोभा से रंजित हृदय वाला होकर देवोपनीत सुख को संकल्पमात्र से भोगता है। देव का सुख संकल्प के अनन्तर उत्पन्न हो जाता है। ये सब सांसारिक बड़प्पन की बातें हैं। जैसे यहाँ अनेक आदमी ऐसे समर्थ हैं, ऐसे वैभवशाली हैं कि जो चाहें जैसी बात, करीब-करीब तुरन्त बना डालते हैं। स्वर्गों में, देवों में तो वहाँ कुछ श्रम भी नहीं करना, आजीविका के कार्य खेती दुकान आदि भी नहीं करना है, केवल एक भोगने-भोगने का ही वहाँ काम पड़ा है, करने का कुछ

है ही नहीं, लेकिन यह बात नहीं है कि वे कुछ करते नहीं हैं। वे ईर्ष्या करते, स्नेह करते, द्वेष करते, बस भावों भावों को ही वासना का काम करते हैं। उन्हें मकान बनाने का काम नहीं है, संकल्प किया, भाव बनाया और जैसा चाहा वैसा मनमाना सुख भोगने लगे। यह बात भी वे जीव अकेले ही किया करते हैं।

सुख दुःख दोनों में जीव का अकेलापन—भैया ! जैसे दुःख में कोई साथी नहीं होता ऐसे ही सुख में भी कोई साथी नहीं होता अर्थात् दुःख की तरह सुख को भी जीव अकेला ही भोगते हैं। भले ही किसी सुख के प्रसंग में दो चार इष्टजन मिलकर सुख भोगते हों, पर वे सबके सब अपना ही अपना सुख अकेला रहकर भोगते हैं, कोई किसी के न सुख का साथी है और न दुःख का साथी है। यहाँ लोग कहते हैं कि हमारा इतने लोगों से परिचय है। अरे कहाँ परिचय है? सब एक स्वार्थसाधना, विषयसाधना, कषायों की अनुवृत्ति का झमेला है और इस कारण लग रहा है कि हमारे बहुत से साथी हैं। वस्तु का स्वरूप स्वकीय स्वकीय एकत्वमय है। किसी वस्तु का कोई दूसरा पदार्थ साथी हो ही नहीं सकता। तब इस जीव का भी साथी कौन है? अकेला ही सुख दुःख यह जीव भोगता है, अकेला ही जन्म-मरण करता है। सर्वत्र यह जीव अकेला है। स्वर्गों में गया तो वहाँ भी इस जीव ने अकेला स्वर्ग सुख को भोगा।

श्लोक-136

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा।

सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योस्ति देहिनः॥136॥

संयोग वियोग में जीव के साथी का अभाव—इस देहधारी का कोई सखा नहीं है। चाहे संयोग की स्थिति हो, चाहे वियोग की स्थिति हो, किसी भी जगह इस जीव का कोई मित्र नहीं है। अनिष्ट संयोग होता है तो इस जीव को अकेला ही दुःख भोगना होता है, कोई साथी नहीं है। इष्ट संयोग हो तो वहाँ भी जो गुजरता है परमार्थ से वह भी दुःख ही है, क्षोभ ही है। उस क्षोभ को भी वह जीव अकेला ही सहता है। कोई इसका दूसरा साथी नहीं है। वियोग के काल में प्रत्यक्ष देखा करते हैं कि सबको अकेला ही मरना होता है और घर में जो लोग जीवित हैं वे अकेले ही दुःख भोगते हैं।

मरण में टोटा किसका—इस प्रसंग में जरा एक बात पर तो दृष्टि डालो कि एक व्यक्ति मर गया और घर के 7-8 व्यक्ति उसमें दुःखी हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में यह तो बतलाओ कि टोटे में मरने वाला रहा या घर के जिन्दा बचे हुए लोग टोटे में रहे? अरे मरने वाला तो चला गया, वह नहीं रो रहा है। वह तो जैसे कर्म उसने किये वैसी ही गति में होगा। अच्छा कर्म किया तो स्वर्ग में जाकर देव हुआ, या कहीं अच्छे उच्चकुल में

उसने मनुष्यदेह धारण किया। तो वहाँ तो यह जीव बहुत सुख में है और ये जिन्दा बचे हुए घर के 7-8 लोग यहाँ हैरान हो रहे हैं। उसके मरने का दुःख और फिर दिन भर लोग आ रहे हैं, तांता लगा है तो उनको देख-देखकर भी दुःख बढ़ता है और कभी दुःख भी न बढे तो झूठमूठ होकर अश्रु बहाकर परेशानी तो करनी ही पड़ती है और यह बात एक दिन की नहीं कम से कम 12-13 दिन तो मुकर्रर कर ही दियों, तब तक तो बराबर रोते ही चलो। कोई किसी दिन आया, कोई किसी दिन आया तो मरने वाला टोटे में रहा या परिवार में जीवित बचे जो लोग हैं वे टोटे में रहे?

अज्ञान में वास्तविक टोटा—भैया ! टोटे वाले का असली उत्तर तो अपने ज्ञान और अज्ञान का उत्तर है। जिस जीव के अन्तर में ज्ञान बना हुआ है वह जीव तो लाभ में है और जिसके मोह अज्ञान बना है वह जीव अलाभ में है। संयोग हो, वियोग हो वहाँ भी यह जीव अकेला ही सुख दुःख भोगता है, ऐसे ही जन्म अथवा मरण हो उसमें भी यह जीव अकेला ही है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ये जन्म मरण के चक्कर लगे हैं यह एक बड़ी परेशानी है। ज्ञानी जीव की दृष्टि में जन्म और मरण दोनों एक समान नजर आते हैं, जन्म में कौनसी नफे की बात हुई और मरण में कौनसी हानि की बात हुई?

मरण का महत्त्व—कहो मरण के समय में परिणाम विशुद्ध रह सकते हैं और जन्म के समय में विशुद्ध नहीं रह सकते हैं। ऐसी बात दूसरों के लिए ही न देखो। खुद के जीव पर तो कहो मरण के समय विशुद्ध परिणाम रहें क्योंकि जीवन में खूब सीखा है, समझा है, अनुभव किया है, आत्महित के लिए उसका अब प्रयोग कर सकता है। पर जन्म समय में कोई सावधान परिणामों से नहीं जन्मता, बेहोशी ही बनी रहती है। कई दिन तक इन्द्रियाँ भली प्रकार काम न कर सकेंगी। जन्म समय में किसी को समाधि उत्पन्न नहीं होती, पर मरण समय में इस जीव को समता, उपाधि, ये सब भाव जग सकते हैं। ज्ञानी जीव तो जन्म की अपेक्षा मरण को महत्त्व देता है, मरण के समय में समाधि परिणाम करता है।

सर्वत्र एकाकित्व के परिज्ञान से शिक्षा—यह जीव जन्मता तो अकेला, मरता तो अकेला। इसी प्रकार जितने भी सुख दुःख इसे प्राप्त होते हैं उन्हें यह अकेला ही भोगता है। जो पुरुष अपने आपको इस संसार-वन में अकेला अनुभव करता है और इस प्रकार अकेला अनुभव करता है कि परजीव से निरपेक्ष होकर, परजीवों में राग मोह से आसक्त न होकर अपने आपमें केवल अपने स्वरूप को निहारे, ऐसा अकेलापन जो जीव निरखता है उस जीव का ही कल्याण हो सकता है। आज गृहस्थावस्था में इतने परिजनों का समागम है, यह समागम तब सफल है जब हम अपने धर्म के लिए उत्साह जगायें और जो कुटुम्ब में परिजन हैं वे भी धर्म में लगे, इस प्रकार की प्रेरणा से घर का वातावरण धार्मिक बन सकता है तो यह गृहस्थी का समागम सफल है और यदि मोह राग विवाद द्वेष विरोध में ही यह जीवन गया तो जीवन पाना निष्फल है। हमारा सबका यह कर्तव्य है कि अपने को एकाकी समझकर क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, विरोध, ईर्ष्या इन सब भावों से

अपने को दूर करें, धर्मभावों में अपना आदर बढ़ायें और जिस प्रकार हम अपने आत्मा के सहज स्वरूप का अनुभव कर सकें उसी प्रकार का यत्न करें, रत्नत्रय की साधना से ही यह मनुष्य-जीवन सफल है।

श्लोक-137

मित्रपुत्रकलत्रादि कृते कर्म करोत्ययम्।

यत्तस्य फलमेकाकी भूङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम्॥137॥

मोह कर्म का कुफल—यह जीव मित्र, पुत्र, स्त्री आदि के निमित्त, जो कुछ भी कर्म करता है उसके फल को नरकादिक गतियों में जन्म लेकर वह अकेला ही भोगता है। नरकगति में जन्म लेने पर यदि कुछ थोड़ा ज्ञान की वृत्ति में चलते हैं तो भी जब समझते हैं कि जिन परिवार मित्रजनों के लिए अनेक पापकर्म किए थे वे सब बिछुड़ गए। उनमें से कोई भी साथी नहीं हो रहा। यह सब में ही अपने दुष्कर्मों को अकेला ही भोग रहा हूँ। कदाचित् कोई कुटुम्ब का जीव उस ही बिल में उत्पन्न हो जाय तो वहाँ परस्पर एक दूसरे को देखकर ऐसा ही ज्ञान बनायेंगे जिससे परस्पर लड़ाई विवाद बने। जैसे माँ ने बच्चे की आँखों में अंजन ही लगाया था लेकिन बच्चे का जीव नरक में उत्पन्न होकर नरक में उत्पन्न हुये माँ के जीव के प्रति ऐसा सोचेगा कि इसने मेरी आँखें फोड़ने का यत्न किया था। उपकार की भी बात अपकार के रूप में वहाँ सोची जाती है।

भोगों का दुष्परिणाम—भैया ! यह सब मोह करना बहुत सस्ता लग रहा है। ये भोग विषय इस जीव को बड़े आसान जंच रहे हैं क्योंकि उदय है कुछ पुण्य का, अनुकूल साधन मिले हुए हैं, लौकिक दृष्टि का अधिकार भी बना हुआ है, यह सब आसान लगता है, किन्तु इन सब विषय कषायों का, मोह भावों का फल अति कटुक होता है। ऐसे ही नरकादिक गतियों में जन्म लेकर उस समस्त फल को भोगना पड़ता है।

नरकरचना—ये नरक किस प्रकार के बने हुए हैं, उसके लिए ऐसा सोचो कि जैसे कोई मोटे काठ के खण्ड में जो कि मान लो 2 फिट लम्बा चौड़ा है उसके भीतर ही चार छः अंगुल नीचे कई जगह छिद्र हों, जिन छिद्रों का पता उस काठ के किसी ओर से न पड़ सके, ऊपर से देखो तो छिद्र न मालूम पड़े, किन्तु भीतर ही छिद्र हों, फिर चार छह अंगुल बीच में छिद्र हो यों छोड़-छोड़कर बीच में छिद्र हो, ऐसे ही जानो यह पहिली पृथ्वी जितनी मोटी है उसमें से ऊपर के दो खण्ड तो देव के स्थान में निकल गये, नीचे के खण्ड की पृथ्वी में ऐसे 13 जगह नीचे नीचे चलकर वैसे बिल बने हुए हैं जिनका मुख पृथ्वी के किसी ओर नहीं हैं। वे बिल बहुत लम्बे चौड़े हैं, लाखों करोड़ों अरबों कोसों के लम्बे चौड़े हैं, इस कारण वे बिल से नहीं जँचते, लेकिन

जिनका कहीं मुँह न हो, पृथ्वी के ऊपर स्थान न हो, पृथ्वी के भीतर ही स्थान हो वह तो बिल ही है, ऐसी पहिले नरक में 13 जगह रचनाएँ हैं। इसके नीचे कुछ कम एक राजू आकाश छोड़कर दूसरी पृथ्वी है। दूसरी पृथ्वी में 11 जगह ऐसी रचनाएँ हैं, इस प्रकार दो-दो पटल कम कम होते होते 7 वीं पृथ्वी में केवल एक ही जगह रचना है और वहाँ केवल 5 बिल हैं, एक बीच में और एक-एक चारों दिशाओं में।

नरक में क्लेश—उन नरकों में यह जीव बिल के ऊपरी हिस्से से अपने आप उत्पन्न होकर नीचे गिरता है वही उनके उत्पन्न होने की योनि है। औंधे मुँह नीचे गिरता है, कई बार उछलता है और थमता है तो चारों ओर से नारकी जीव उस पर टूट पड़ते हैं और यह भी उन पर टूटता है। नारकों से नारकी परस्पर लड़ते हैं। जैसे कि कुत्ता अन्य कुत्ते को देखकर लड़ने की बात दिमाग में ठानते हैं, यों नरक के नारकियों को मारने के लिए, दुःख देने के लिये अनेक नारक जीव दाव लगाकर बैठे रहते हैं जो आपस में एक दूसरे को घात करते रहते हैं। ऐसी बड़ी दुःखद परिस्थिति में यह जीव जन्म ले लेता है। वहाँ यह जीव सब अपने दुष्कर्मों का फल अकेला ही भोगता है। यहाँ भी सभी जीव अपनी-अपनी कल्पनाएँ बनाकर अकेले ही दुःख भोगा करते हैं।

श्लोक-138

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।

न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयां व्यसनावलीम्॥138॥

विपदा में साथी का अभाव—इस जीव के सहायक हो तो जाते हैं यहाँ, वे केवल धन आदिक भोगों को भोगने के लिए ही सहायक होते हैं, परन्तु अपने कर्मों से उपार्जित किए हुए इन निर्दय दुःखों के समूहों को सहने के लिए कोई साथी नहीं होता। जैसे कि लोक में कहते हैं कि सुख में अनेक साथी होते हैं, दुःख में कोई साथी नहीं होता है। यह बात सब जीवों की है। माता भी पुत्र के सुख में साथी है, उसके दुःख में साथी नहीं है। हालांकि यह देखा जाता है कि पुत्र के कष्ट में माता बड़ी विह्वल होती है, उसके दुःख का निवारण करती है लेकिन वहाँ भी यह देखो कि माँ केवल अपने कषायों के अनुकूल भाव बनाकर जिससे वह सुखी रह सके वैसा ही यत्न करती है, पुत्र के दुःख को रंच भी बांट नहीं सकती है और इस पद्धति से कोई किसी के सुख में भी साथी नहीं है पर लोकव्यवहार में जैसे कि लोग सम्मिलित हो जाते हैं सुख में, यों कोई दुःख में सम्मिलित नहीं होते हैं। तब यों प्रसिद्ध ही कहा कि सुख में सब साथी हैं दुःख में कोई नहीं।

पर से घृणा न करके उसके ज्ञाता द्रष्टा रहने का अनुरोध—सम्पदा के सब साथी हैं, विपदा का कोई साथी नहीं है। यह जीव दुःख को अकेला ही भोगता है यह बात निःसंदिग्ध है, तथापि यह दुनिया का चरित्र घृणा करने के योग्य नहीं है, किन्तु इसके ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिये। कोई जीव भी मेरे क्लेश का साथी नहीं होता, ऐसा सोचकर किसी जीव से जुगुप्सा नहीं करना है, ये बड़े खराब लोग हैं, ये मेरे साथी नहीं हो रहे हैं, ऐसी घृणात्मक दृष्टि नहीं बनाना है किन्तु उस स्वरूप का आदर करना है जो स्वरूप यह बतलाता है कि कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप से, प्रदेशों से बाहर कुछ काम कर ही नहीं सकता।

एकत्वभावना की दिशा—कोई जीव किसी भी पर-परिणमन का साथी न होगा, ऐसे कथन में हमें वस्तुस्वरूप का शुद्ध दर्शन करना है, किन्तु किसी जीव से घृणा नहीं करनी है। अगर ऐसा सोचकर कि कोई भी जीव मेरे दुःख में साथी नहीं हो रहे घृणा करने लगे दूसरे जीवों से तो क्या यह मैं दूसरों के द्वारा घृणा के योग्य न होऊँगा। जब मैं दूसरों को खुदगर्ज देखकर उनसे घृणा करूँ तो इसका अर्थ है कि सभी लोग मुझे भी देखकर मुझसे भी घृणा करने लगे। घृणा की बात ग्राह्य नहीं है किन्तु एक स्वरूप का बोध कर लो। स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ अपने परिणमन को छोड़कर अन्य का परिणमन नहीं करता अथवा अपना भी परिणमन करे और अन्य का भी परिणमन करे ऐसा भी नहीं होता। सब जीव सब पदार्थ अपने आपका परिणमन करने में रत हैं, ऐसा निरखो और अपने आपको भी ऐसा देखो। अपना ही परिणमन करने में सब समर्थ हैं, इस दृष्टि में ही वास्तव में एकत्व भावना आ जाती है।

एकत्वभावना में उपादेय तत्त्व—यह मैं आत्मा अकेला हूँ ऐसी एकत्व भावना में यह जीव आनन्दधाम निज अंतस्तत्त्व को प्राप्त होता है। भावनाओं के स्वरूप को समझने के लिए दुःख में कोई साथी नहीं है, ऐसा कहा जाता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख भोगता है। इस जीव का कभी भी कोई सगा साथी नहीं है ऐसा एक सुगम वैराग्य के लिए कहा है। एकत्व भावना में यही तो सुविदित होता है कि यह जीव मात्र अपने प्रदेशों में अपने आपका परिणमन करता है, चाहे वह मोक्ष-परिणमन का परिणमन हो, अनन्तज्ञान का, अनन्त सुख का परिणमन हो और चाहे संसार का दुःखरूप परिणमन हो, प्रत्येक परिणमन प्रत्येक जीव में प्रत्येक पदार्थ में स्वयं के ही साधन से स्वयं के ही आधार में हुआ करता है, कोई अगर मेरे दुःख में साथी नहीं है तो नाराज होने की क्या बात है, जैसा स्वरूप है ऐसा उसे जानो।

श्लोक-139

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः।

यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते॥139॥

एकाकित्व का समर्थन—यह जड़ जीव, सब व्यामोही प्राणी संसाररूपी पिशाच से पीड़ित हुआ अपनी एकता को क्यों नहीं देखता है? जन्ममरण के प्राप्त होने पर सब ही जीव यों दिखाई पड़ते हैं, सभी मनुष्य प्रायः अपनी आँखों से देखते रहते हैं कि यह जन्मा तो यह भी अकेला ही जन्मा। यह मरा तो यह भी अकेला ही मरा। उनके जन्म मरण में कोई साथी है क्या? किसी के दो बच्चे भी एक साथ पैदा हों, जिसे कहते हैं जुड़वाँ, तो दो बच्चे पैदा हो गए एक साथ, इस पर भी वे साथ नहीं जन्में किन्तु अपना अपना अलग-अलग जन्म लिया। यों ही किसी प्रसंग में 50 आदमी एक साथ मर जाते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं है कि देखो सभी एक साथ मरे हैं अरे मरने में भी कोई साथ नहीं निभाता मर गये सब अपनी-अपनी आयु का क्षय होने पर, चाहे एक ही मिनट में पचासों मरे हैं पर मरे सभी अकेले-अकेले ही हैं। कोई किसी का साथ निभाकर नहीं मरा। तो जो बात आँखों देख रहे हैं, प्रत्यक्ष में समझ रहे हैं उस बात पर विश्वास क्यों नहीं रखते?

सर्वपरिणतियों में जीव के एकाकित्व का दर्शन—प्रत्येक स्थिति में यह जीव अकेला है और सर्वप्रकार से अकेला है। जब इसने संसारभाव किया, रागभाव किया और उस रागभाव के कारण जो क्लेश क्षोभ अनुभूत हुआ वह सब परिणमन भी अर्थात् यह उपरोक्त परिणमन इस उपराग करते हुए जीव ने स्वतंत्र होकर किया। भले ही इस राग के उत्पन्न होने में परउपाधि निमित्त है, पर उपाधिभूत निमित्त की परिणति लेकर तो यह जीव रागरूप नहीं परिणमा। यह मात्र अपने ही परिणमन से रागरूप परिणमा और रागरूप परिणमकर अपने आपको ही रागरूप बनाया। अपने ही परिणमन से रागरूप बना, अपने ही लिए रागरूप बना, अपने में बना। सर्व तरफ से इस जीव में एकता तो बनी हुई है।

स्वरूपस्वातन्त्र्य के विवेक में लाभ—अहो खेद की बात है कि इस अज्ञान पिशाच से प्रेरे हुए ये संसारी प्राणी अपनी एकता को नहीं निरखते। जब भेद विज्ञान जग जाय तो उस विवेक के काल में भी इस जीव ने जो कुछ स्वच्छ परिणमन किया, ज्ञानरूप परिणमन किया वह भी स्वतंत्र होकर किया। अपने ही साधन से, अपने ही प्रयोजन में, अपने ही आधार में, अपने ही आपको इस प्रकार परिणत कर लिया। यह जीव सर्वस्थिति में एकाकी है, इसका कोई सहाय नहीं है, साथी नहीं है। इस एकत्वस्वरूप के आदर करने से मोह पिशाच दूर भाग जाता है, अज्ञान अंधकार समाप्त हो जाता है और उस ज्ञानानुभूति के प्रसाद से स्वाधीन आनन्द जागृत होते हैं। अतः हे आत्मन् ! अपने आपको शान्ति के मार्ग में ले जाना चाहते हो तो प्रथम कदम यह ही है कि अपने आपको अकेला तो समझ लो। है यह अकेला, इस कारण अकेला समझो।

श्लोक-140

अज्ञातस्वरूपोयं लुप्तबोधादिलोचनः।

भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः॥140॥

अविदितस्वरूपता का फल—जिसने अपना स्वरूप नहीं जाना है, जिसके ज्ञाननेत्र लुप्त हो गए हैं, ऐसा यह जीव इन कर्मों से ठगा जाकर अकेला ही निरन्तर इस संसार में परिभ्रमण करता है। अपने आपके इस अकेलेपन को न निरखने से ये सारी विपदायें अपने पर लग गयी हैं। मैं दूसरे का कुछ कर सकता हूँ, ऐसा मिथ्या आशय भी एकत्व भावना को लुप्त कर देता है। मैं किसी का कुछ कर सकता हूँ, ऐसा आशय रखने वाले ने अपना एकत्व जाना कहाँ? यदि वह आत्मा अपने एकत्व को जानता होता तो कर्तृत्व का आशय न कर सकता था। प्रायः करके सभी संसारी जीव बुद्धि के दोष से ही संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। क्या है स्वयं में, यथार्थ बात विदित होनी चाहिए।

पर को प्रसन्न करने की आवश्यकता—भैया ! दुनिया के कथन पर दृष्टि डालें तो हम कहाँ तक अपना लक्ष्य पूरा कर सकते हैं? किसी भी जीव पर सभी जीव कभी खुश नहीं हो सकते, किसी जगह हो। भले ही परिजनों में से अधिकांश लोग उसके अनुकूल हों, पर ऐसा कोई व्यक्ति न मिलेगा जिस व्यक्ति के अनुकूल सभी पुरुष हों। आजकल के नेताओं के प्रति निहार लो। अन्य बात तो जाने दो, जो प्रभु हैं, सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं उनके प्रति भी सब लोगों का सन्मान भाव नहीं जगता, सब अच्छा तो कहते ही नहीं। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहने लगते कि देखो भगवान ने इसे मार डाला। तो जब भगवान तक के भी ये सब जीव अनुकूल नहीं हुए तो छुद्र जन्म लेने वाले जीव ये कोशिश करें कि मुझ पर सब जीव प्रसन्न हो जायें, सब मनुष्य मुझे समझने लगे, ऐसी बुद्धि हो तो वह बुद्धि नियम से अनर्थ ही करने वाली है।

भोक्तृत्वबुद्धि की अनर्थकारिता—यह भोक्तृत्वबुद्धि भी अनर्थकारिणी है। मैं अमुक को भोगता हूँ, कपड़ा चारपाई वैभव को मैं भोगता हूँ, ऐसी बुद्धि में भी क्लेश पड़ा हुआ है क्योंकि उपयोग तो अज्ञान की ओर बह रहा है। यह मैं केवल अपने आपमें जो वितर्क उत्पन्न हुए उन वितर्कों के कारण जो स्थिति होनी चाहिए सुख की, दुःख की, आनन्द की, मैं केवल अपने आनन्दगुण के परिणमन को ही भोगता हूँ। जहाँ ऐसी एकत्व दृष्टि नहीं रहती और पर-की ओर आकर्षण रहता है उस जीव का टिकाव कहीं नहीं हो सकता। जिस पदार्थ में अपना टिकाव लगाया वह पदार्थ ही टिकाऊ नहीं है और फिर उस पर किया हुआ उपयोग भी टिकाऊ नहीं है इसी कारण पर के आलम्बन में भी आनन्द नहीं प्राप्त होता।

स्वरूप के परिचय व अपरिचय का फल—जो पुरुष निजस्वरूप को जान ले और जानकर उस ही तत्त्व भूत स्वरूप का ज्ञान बनाये रहे तो ऐसे ही अन्तः आचरण के कारण यह जीव शान्त हो सकता है, संसार के संकटों को दूर कर सकता है। लेकिन ऐसा न करके यह जीव कर्मों से ठगाया हुआ, रागद्वेष मोह से ठगाया हुआ होकर इस संसार में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है। कोई परिणमन की हद है क्या कि किस दिन से किस क्षण से परिभ्रमण हो रहा है। यदि कोई दिन क्षण नियत कर दे तो इसका अर्थ यह है कि इसके पहिले मैं संसारी न था, विभाववान न था। संसारी न था तो किसी भी प्रकार ये विभाव आ ही नहीं सकते थे।

द्रव्यकर्म व भावकर्म का अनादि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—कर्म का व भाव का अनादि से ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है, क्या बताया गया था, कर्म था पहिले या जीव का भाव था पहिले? कैसी विचित्र अनादि संतति है? चूंकि भाव हुए बिना कर्म नहीं होते अतएव भाव पहिले थे और कर्म बाद में किया और बढ़ जावो, कर्मों के उदय बिना ये भाव नहीं हुआ करते, अतएव कर्म पहिले थे फिर उसके उदय में भाव हुए। ये कर्म भाव कर्मपूर्वक हुए। वे भाव भी द्रव्यकर्मपूर्वक हुए, यों अनादि से ही यह चक्र चला आ रहा है। तब इसमें हमें कोई समाधान नहीं हो सकता कि पहिले भाव थे या कर्म थे। उसका ही अर्थ यह हुआ कि यह सब अनादि से चला आ रहा है। जैसे मनुष्य के पिता, ये अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। कोई पिता ऐसा नहीं है कि जो पिता के बिना ही उत्पन्न हो गया हो।

संकटमोचिनी भावना—विधि से ठगाया जाकर कर्मों से बद्ध होकर यह जीव इस संसार में अकेला ही अज्ञानी मोही विषयासक्त बन बनकर यह जीव भ्रमण करता चला आ रहा है। उस समस्त भ्रमण संकट से छुटकारा पाने का सुगम उपाय है यह एकत्वभावना। अपने आपको अकेला सोच लो, सारे झंझट लो समाप्त हो गए। यों एकत्वभावना के प्रसाद से यह जीव मोक्ष मार्ग में बढ़ता है और शान्ति का अधिकारी होता है। हम आप भी अपने को अकेला ही सोच लेंगे तो इस चिन्तवन से अनेक संकट दूर हो जायेंगे।

श्लोक-141

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः।

तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवी भवेत्॥141॥

बन्धन का मुख्य हेतु—जब यह जीव मोहवश होकर चेतन अथवा अचेतन पदार्थों से अपनी एकता मानता है उस समय यह जीव अपने ही द्वारा अपने आपको बांधता है, जीव का बन्धन परवस्तु में स्नेह

पहुँचना है, परवस्तु में मोह होना एतावन्मात्र बन्धन है। जीव अमूर्तिक है, इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। यह पुद्गल की भांति अथवा जैसे रस्सी आदिक एक दूसरे से बँध जाती हैं इस तरह यह जीव किसी पदार्थ से बँध जाता हो ऐसा तो शक्य है नहीं, किन्तु यह जीव स्वयं परवस्तु में राग अथवा मोह करके अपनी ही कल्पनाओं से अपने ही आपको परतंत्र बना लेता है। जैसे यही परिवार में आप स्त्री से बच्चों से किसी से बँधते तो हैं नहीं जैसे कोई एक मूर्त पदार्थ दूसरे मूर्त पदार्थ से स्वयं बँध जाता है, रस्सी-रस्सी में बँध जाय ऐसा कुछ बन्धन तो आपका है नहीं वह जीव जुदा है, आप जुदे हैं। उनका सुख दुःख न्यारा है, आपका सुख दुःख अलग है। आपकी कल्पनाएँ आपमें होती हैं, उनकी कल्पनाएँ उनमें होती हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है फिर बन्धन क्या? जो जीव अपने आपकी कल्पनाओं में उन कुटुम्बी जनों से एकता को मानता है, यह मेरा है, यह ही तो मैं हूँ, इसमें मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरा हित है, ऐसी कल्पनाएँ करके कोई एकता माने उसही का नाम बन्धन है, क्योंकि इन कल्पनाओं में यह जीव अपनी ओर से आप परतंत्र हो गया है।

मोह के बन्धन पर एक दृष्टान्त—एक घटना है—एक गृहस्थ घर छोड़कर व्यापार के लिए बहुत दूर चला गया। वहाँ उसे 14 वर्ष व्यतीत हो गए। वह एक वर्ष का बालक घर छोड़कर गया था। अब माँ कहती है कि बेटा तुम 15 साल के हो गए, समझदार हो, जावो अपने पिताजी को अमुक शहर से अमुक जगह से लिवा लावो। वह चला अपने पिता को लिवाने। उधर से वह उस लड़के का पिता भी अपने घर के लिए चला। दोनों ही रास्ते में एक शहर की धर्मशाला में पाप-पास के कमरे में ठहर गए। दोनों ही एक दूसरे को नहीं पहिचानते। रात को उस लड़के के पेट में बड़ा दर्द उत्पन्न हुआ। वह खूब चिल्लाये। उसकी चिल्लाहट से उस पुरुष को नींद न आए, सो चपरासी से कहा कि इस लड़के को धर्मशाला से बाहर कर दो, हमें नींद नहीं आती। चपरासी बोला—रात्रि के 12 बज गए हैं, कहाँ इसे भेज दें। आखिर उसका दर्द बढ़ गया और उस लड़के का वही हार्ट फेल हो गया, मर गया, यद्यपि उस पुरुष के पास पेट दर्द की दवा थी, पर वह उस लड़के को दे नहीं सका। जब घर जाता है तो स्त्री से पूछता है कि लड़का कहाँ है? तो स्त्री कहती है कि लड़का तो तुम्हें ही लिवाने गया है। वह चला लड़के की खोज में। पता लगाते-लगाते उस धर्मशाला में भी पहुँचा जहाँ दोनों ठहरे थे। मैनेजर से पूछने पर उस पुरुष ने जाना कि ओह वह मेरा ही पुत्र था जो मेरी आँखों के सामने मरा था। वह पुरुष मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। देखो मोह की बात कि जब पुत्र सामने मरा तब एक भी आँसू न गिरा और जब सामने नहीं हैं तो बेहोश होकर गिर पड़ा। तो किसी को दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं होता। जहाँ खुद का ही ज्ञान उल्टा चलता है वहाँ दुःख हो जाता है।

सुख दुःख के प्रसंग में ज्ञानलीला का प्रभाव—भैया ! कितने ही उपद्रव आ रहे हों, पर अपना ज्ञान यदि सही है तो वे सारे उपद्रव दूर हो जाते हैं। और चाहे कोई पुरुष कितने ही सुख के वातावरण में हो, धनिक भी है, महल भी अच्छे बने हैं, कुटुम्ब भी योग्य है, आराम से रहता है, लेकिन कल्पनाएँ उठायी कि अभी मेरे पास क्या धन है? क्या ठाठ है, यह तो कुछ भी नहीं है। अमुक देखो कितना महान है, अथवा मेरी इज्जत, मेरा

नाम अभी देश भर में कहाँ हुआ है, कहाँ सुख है, चिन्ताएँ करें, तृष्णा बढ़ायें तो इतने बड़े अच्छे साधनों में रहकर भी वह दुःखी हो गया। कौन दुःखी करने वाला है।

ज्ञान की संभाल में दुःख से छूटकारा—जिसके बाह्यसमागम संपदा कुछ भी नहीं है, खाने का भी साधन नहीं है, किसी प्रकार मांगकर खाये, गुजारा करे लेकिन ज्ञान यदि सही है, वस्तु के शुद्धस्वरूप को समझता है तो वह पुरुष ज्ञान के बल से ऐसी गरीब स्थिति में भी प्रसन्न है, सुखी है। बड़े-बड़े समागम वाले परपदार्थों में आत्मीयता एकता मानने से दुःखी है। हमारा दुःख कोई दूसरा मेटने न आ जायेगा। किसी अन्य में सामर्थ्य नहीं है कि मेरा दुःख दूर कर जाय। लोग अपना दुःख दूर करने के लिए दूसरों से प्रार्थना करते हैं, इच्छा करते हैं, सेवायें करते हैं आशा रखते हैं, लेकिन कितने ही अन्य उपाय कर लें दुःख दूर न होंगे। अथवा किसी उपाय से कुछ दुःख का शमन हो गया तो उससे क्या सिद्धि है? थोड़ी देर बाद और तरह का दुःख उखड़ पड़ेगा। दुःख मूल से नष्ट हो, इसका उपाय खुद को ही करना होगा और वह उपाय भी केवल ज्ञान से सम्बद्ध होगा। अन्य पदार्थों की संभाल से दुःख दूर नहीं हो सकते।

स्वयं की संभाल से दुःख के अभाव होने का कारण—अपनी ही संभाल से अपना दुःख दूर होगा, इसका कारण यह है कि यह जीव अकेला है, जीव ही क्या, प्रत्येक सत् अकेला हुआ करता है। सत् का स्वरूप ही यह है कि जो केवल स्वमात्र रहे उसही का नाम सत् है। ऐसी अपने विशुद्ध अकेलेपन की भावना हो तो बन्धन से छूटता है और परपदार्थों में अपनी एकता का बन्धन हो तो वह बाँधता है। बन्धन ही दुःख है और मुक्ति ही सुख है। जिन्हें बन्धन के दुःख से बचना हो उनका कर्तव्य है कि वे अपने निर्वाधस्वरूपमात्र अपने अंतस्तत्त्व का श्रद्धान करें, वहाँ ही ज्ञान लगायें और उस रूप ही आचरण करें, हम कुछ भी करे, जो भी बन्धन में आये आने दो। ज्ञान का स्वरूप है यह कि सब कुछ ज्ञान में आ गया, लेकिन रागद्वेष न करें, मोह न करें, यह आपके हाथ की बात है।

स्वभाव की उपासना—भैया ! सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं, पड़े हैं, दिख रहे हैं क्या आप अपना यह ज्ञान नहीं बना सकते कि ये पदार्थ इस क्षेत्र से भी न्यारे हैं, पिंड से भी अलग हैं। मेरा परिणमन मुझमें ही है। किसी भी अन्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी जानकारी क्या आप बना नहीं सकते? बना तो सकते हैं, पर न बनायें, आलस्य करें, मोक्ष मार्ग में अनुराग न करें तो यह एक व्यक्तिगत निज की बात है जो न कुछ सी है। व्यर्थ क्यों परपदार्थ में मोह और राग की निरन्तर कल्पनाएँ किया करते हैं। एक ही निर्णय रखिये—जो इन परपदार्थों में ममता मोह आत्मीयता, एकता करेगा वह अपने को अपने से बाँध लेता है और उसके विरुद्ध अर्थात् स्वभाव के अनुकूल अपना ज्ञान आचरण और श्रद्धान करे तो वह छूट जाता है।

श्लोक-142

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः।

तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयंमेव विशीर्यते॥142॥

एकत्व की उपासना से जन्मसम्बन्ध का निवारण—जिस समय यह जीव भ्रमरहित होकर ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो अकेला हूँ, मेरा यह चैतन्यस्वरूपस्वतंत्र है, ऐसी एकता को प्राप्त होता हुआ अपने में न माने कि अन्य कुछ भी मेरा है और दृढ़ निर्णय रखे कि मेरा मात्र मैं ही हूँ, मेरा जिम्मेदार मैं हूँ मेरी करतूत के अनुसार ही मुझे फल मिलता है और वह फल करतूत के साथ ही साथ तुरन्त मिल जाता है। जैसा परिणाम किया वैसा सुख अथवा दुःख अथवा आनन्द तत्काल ही मेरे साथ लगा हुआ है, मैं उपाधिरहित अपने सत्त्व के कारण अपने स्वरूपमात्र हूँ, ऐसे एकत्व को मैं प्राप्त हुआ हूँ, ऐसी बात जब इस जीव के बनती है तब ही जन्म का सम्बन्ध स्वयंमेव ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि संसार का सम्बन्ध तो मोह से है। यदि मोह दूर हो गया तो आप तो एक थे ही, अकेले थे ही। वही रह गए, फिर मोक्ष क्यों न होगा?

अपनी परिणति पर अपने भविष्य की निर्भरता—हम कैसे बनें, हमारा भविष्य कैसे सुधरे अथवा बिगड़े, कैसे बनेगा भविष्य, यह सब कुछ हमारे परिणामों पर आधारित है। यह सब यथार्थ है। जो लोग ऐसा न मानते हो कि हमको ईश्वर सुख अथवा दुःख देता है तो जब उनसे यह प्रश्न करो कि सुख दुःख जब प्रभु देता है तो इस जीव को वह सुख ही सुख क्यों नहीं देता, दुःख क्यों देता है? तब वहाँ यह कहना पड़ता है कि यह जीव जैसे कर्म करता है उसे कर्म के अनुसार प्रभु सुख अथवा दुःख देता है। तब इसमें ही तथ्य तो यही निकला कि चाहे किसी प्रकार हमको सुख अथवा दुःख मिले, पर हम जैसे करनी करते हैं उसके अनुसार हमें सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है। संसार विडम्बना में भी मैं अकेला ही बन्धन में पड़ा हुआ हूँ और जब यथार्थस्वरूप जानकर इन विडम्बनाओं से मुक्त होऊँगा तब भी यह मैं अकेला ही मुक्त होऊँगा। संसार की इन प्रवृत्तियों में भी यह जीव सर्वत्र अकेला ही है। सुख भोगे तो अकेला, दुःख भोगे तो अकेला। मोह करे किसी से तो यह अकेला ही तो करता है। उस परिणति को दूसरा नहीं करता।

व्यवहार की असारता का निर्णय—भैया ! बहुत राग हो किसी से तो यह न समझिये कि उसका राग मुझमें हुआ है। यह समझिये कि मेरे प्रदेशों में मेरा राग परिणमन है और वह भी मुझसे राग करता है तो उसका राग परिणमन उसके प्रदेशों में है। सर्व जीव स्वयं अपने आपमें अपने आपका परिणमन किया करते हैं। कोई किसी का साथी नहीं है। कषाय से कषाय मिल गई लो मित्रता हो गयी, कषाय से कषाय न मिली तो शत्रुता हो गई। इस शत्रुता मित्रता का कोई ठेका नहीं है कि कब तक रहे? आज तो शत्रु है कहो कल मित्र बन

जाये और आज मित्र है कही कल शत्रु बन जाया। तो यह सब जगत विलक्षण है। यहाँ रमने योग्य कुछ नहीं है। जब एक स्वरूप स्वभाव को निरखें, उसमें ही परिणमन करें, उस ही घर में निवास करें, अपने ही ब्रह्मस्वरूप में मग्न हों तो यही हमारी शरण है, इसके सिवाय अन्य जगह का भटकना यह कुछ भी शरण नहीं है। जब यह जीव भ्रमरहित होकर अपने इस कैवल्यस्वरूप को प्राप्त करता है बस उस ही समय से जन्ममरण का सम्बन्ध नष्ट होने लगता है और जन्ममरण से रहित हो जाता है। समस्त व्याधियों और चिन्ताओं की जड़ यह शरीर है। इस शरीर से भी रहित होकर यह जीव शाश्वत आनन्दमय वर्तता रहता है। हमारे कल्याण की प्राप्ति इस एकत्व भावना से होती है।

एकत्व की उपादेयता का निर्णय—भैया ! एक ही निर्णय कर लो, हम आप सबको संकट से मिटाने में समर्थ एक एकत्व भावना है अर्थात् अपने आपका विशुद्ध अकेलापन है। शरीर से भी रहित और रागद्वेष आदिक से भी रहित केवल चैतन्यप्रकाशमात्र जहाँ मात्र जाननहार स्थिति है ऐसा विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ, ऐसा केवल अपने को विचारें तो यह ही आनन्द का उपाय है अन्य कुछ नहीं। अन्य बातों में कहीं लगते हो? सब धोखामय है, मायाजाल है। जैसे स्वप्न में देखी हुई सारी बातें झूठ हैं ऐसे ही वह दृश्यमान सारा संसार झूठा है, असार है।

एकत्व के ग्रहण में संसरण का विच्छेद—सीधी सी बात देख लेना, बड़े-बड़े धनिक, बड़े-बड़े यशस्वी, बड़े-बड़े नायक क्षणमात्र में मरण को प्राप्त हुए और फिर उसके बाद यहाँ उनका क्या रहा? जहाँ जायेगा यह जीव वहाँ क्या बीतेगी? वह बात आगे की उनके साथ है। लेकिन यहाँ का सारा सम्बन्ध तो सारा विघट जायेगा। जब यह जीव मरण करता है तब तो स्पष्ट समझ में आ जाता है कि यह अकेला ही था, अकेला ही जन्मा था, अकेला ही मर गया। लेकिन जब तक जीवन था तब वह सर्वत्र अकेला ही अकेला था। मंदिर में आकर कुछ धर्मध्यान किया तो वहाँ भी इस अकेले ने अकेले में अकेले का काम किया। और यह जीव घर में जाकर पुत्रादिक को खिलाता हो और बड़े सुख साज वैभव को भोगता हुआ रह रहा हो वहाँ भी यह जीव केवल अपने में केवल अपनी ही कल्पनाओं से अपने लिए कर रहा है। इसके आगे वहाँ भी यह कुछ नहीं करता है। ऐसा एकत्व, ऐसा अकेलापन दृष्टि में आये और इसका सही रूप में श्रद्धान बने तो उसका जन्म मरण संसार का सम्बन्ध दूर हो जायेगा।

श्लोक-143

एकः स्पर्शी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः, एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणै।

एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बन्धाति विद्वान्, एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्य भुनक्ति॥143॥

जीव का अकेले अकेले संसरण—यह जीव आप ही अकेला स्वर्गी बनता है, देव बनता है और उस देवगति में जन्म लेकर अनेक देवांगनाओं के समागम में संगम में उनको निरख-निरखकर उनके मुख कमल में भ्रमर जैसा सेवक बनकर जो कुछ वहाँ चेष्टा करता है वह भी अकेला ही चेष्टा करता है। और फिर यह जन्म मरण करके मनुष्य अथवा पशु पक्षियों में जन्म लेता है तो वहाँ भी यह उस पर्याय के अनुकूल अपने को अकेला ही करता है। जो कुछ भी परिणमन करे अकेला ही परिणमन करता है। यों ही यह जीव जब नरकगति में उत्पन्न होता है तो वहाँ भी अन्य नारकियों के शस्त्रों द्वारा छिद-छिद कर नारकीय यातनाओं को भोगता है और दूसरे नारकी, मदिरा पूर्वभव में जिन्होंने पिया है उन्हें तप्त लोहरस पिलाते हैं, उनको उनके ही शरीर से जो कुछ भी निकला खून जैसा कुछ भी उसे ही कूटकर उनके मुख में देते हैं। नारकों में ऐसे कठिन दुःखों को भी यह जीव अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा वहाँ साथी नहीं है।

क्रोध में अकेले का परिणमन—इस भव में भी क्रोध, मान, माया, लोभ की अग्नि से संतप्त होता हुआ यह जीव अकेला ही कर्मबन्धन करता है जब कोई उमडता है तो उस क्रोध की स्थिति में जो इस पर गुजरती है, बेचैनी हो जाती है वे सब परिस्थिति इस अकेले को ही तो भोगनी पड़ती है। कैसा अज्ञान है? जिस पर क्रोध आता है उसका कुछ बिगाड़ हो जाए तो यह बड़ा अपने को सुखी अनुभव करता है। जैसे माँ बालक को गोद में लेकर चल रही है, दरवाजे से निकले और कोई किवाड़ों का खूट उस बालक के लग गया तो बालक रोने लगता है। उस समय माँ बालक को देखकर दो तमाचे किवाड़ में जड़ देती है, बालक का रोना शान्त हो जाता है। अरे बालक, उस किवाड़ में दो थप्पड़ जड़ दिये तुझमें कौनसी बात आ गयी? लेकिन इस किवाड़ ने मुझे मारा था, लो मेरी माँ ने इसे पीट दिया, यह बात उस बालक के चित्त में आयी इससे उसका रोना बंद हो गया। यह जीव दूसरे का बिगाड़ निरखकर अपने को बड़ा सुख में मानता है। तीव्र कषाय में, अनन्तानुबन्धी भाव में ऐसी ही परिणतियाँ होती हैं। यों ही मान कषाय है।

मान, माया, लोभ में अकेले का परिणमन—जब तीव्र मानकषाय का जिसके उदय होता है वह दूसरे को नहीं देख सकता। दूसरे का अपमान हो, खुद की महत्ता बढ़े, ऐसी बात उसके मन में आती है और उस मान की अग्नि से जलकर यह जीव दुःखी रहता है। यों ही माया की अग्नि है, जिसमें जलाकर यह जीव अपने गुणों को खाक कर देता है, बरबाद कर देता है। लोभ की आग भी कम नहीं है। तृष्णा दाह में जलभुनकर यह जीव अपने आपके सारे गुणों को फूँक डालता है। यों कर्म बाँधा तो इस जीव ने अकेले ही कर्म बाँधा। सर्वत्र यह जीव अकेला है।

एकत्व के मिलन में धर्म का पालन—भैया ! अपने अकेलेपन को सोचो तो इससे शान्ति का मार्ग मिलेगा। अपने को किसी बाह्य विभाव से युक्त न निरखियो। इन चर्मचक्षुषों को खोलकर बाहर के पदार्थों को

देखकर उनसे कुछ अपना महत्त्व आंकने लगे तो दुःख ही दुःख मिलेगा, वहाँ आनन्द का नाम नहीं है। भाई धर्म करो? क्या धर्म करो? प्रभुपूजा करो, प्रभुस्मरण करो, आत्मा का ध्यान करो। यह ही धर्म करना है। जिन्होंने धर्म का मर्म ही कभी नहीं पहिचाना है उनके प्रभुपूजा में भी धर्म नहीं हो पाता। ध्यान, जाप वगैरह करने बैठे तो वहाँ भी धर्म नहीं हो पाता। और धर्मपालन करो इसका सीधा तो अर्थ है। अपने को सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र निरखने लगे। इसही का नाम धर्मपालन है। क्योंकि धर्म से मुक्ति मिलती है, संसार के संकटों से छुटकारा मिलता है। संसार के दंद-फंदों से तो हम छूटना चाहें और संसार के दंद-फंदों से न्यारा होने का हम साहस न बनायें तो संकटों से छूट कैसे सकते हैं? जैसे जल में रहते हुए भी कमल जल से न्यारा है ऐसे ही इन रंगों में रहकर भी जीव अपना स्वरूप परिचय पाकर न्यारा ही समझे, इससे तो इस जीव का भला है, कल्याण है अन्यथा बाह्य वस्तुओं के मोह में तो इस जीव को आदि से अन्त तक केवल दुःख ही दुःख मिलेगा।

विशुद्ध स्वरूप के आचरण में कल्याण—यह जीव संसार में जो सुख दुःख सहता है वह सब यों ही अकेला ही सहता है और जब कभी समस्त बाह्य आभ्यंतर आवरण टूट जायें, इस लोक के स्वभावों को ढकने वाले कर्म दूर हो जायें, यों यह समस्त ज्ञानराज्य को भी भोगता है। वह भी अकेला ही भोगता है। अपना वास्तविक अकेलापन अपनी दृष्टि में रहे तो जीव को शान्ति और सन्तोष हो सकता है। एकत्व भावना के इस प्रकरण से हम अपने आपमें यह शिक्षा लें कि मुझे तो अपने को केवल अकेला निजस्वरूपमात्र अपने सत्त्व से जैसा है तैसा ही मानना है, इसमें ही कल्याण है, अन्य उपायों से शान्ति का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

श्लोक-144

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः।

चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्येक वानपि॥144॥

बद्ध दशा में भी जीव की स्वभावशुद्धता—पदार्थ का अपने आपका स्वरूप जैसा है वैसा ही निहारने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ परपदार्थ से अत्यन्त न्यारा है। जैसे पानी में मिट्टी का तेल डाल दिया जाय तो यद्यपि ये दोनों एक बर्तन में हैं लेकिन तेल के स्वभाव में पानी प्रवेश नहीं करता, पानी के स्वभाव में तेल प्रवेश नहीं करता। अपने-अपने सत्त्व को लिए जुदे-जुदे पदार्थ हैं, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि आज बंध के प्रति एक बन रहा है, शरीर में वही बस रहा है, जहाँ देह है, फिर भी यह देह से अत्यन्त न्यारा है। यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप है और यह शरीर न चित्स्वरूप है, न आनन्दरूप है। यों शारीरिक समस्त

पदार्थों से विलक्षण यहाँ मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसी भावना रखने वाले पुरुष के अत्यन्त भावना बनती है।

एकत्व व अन्यत्व का भावना का लक्ष्य—इस प्रसंग से पहिले एकत्व भावना कही थी कि मैं अपने आपमें एक हूँ, अकेला हूँ। सब स्थितियों में, सुख पाता हूँ तो अकेला, दुःख पाता हूँ, तो अकेला, जन्म लूँ मरण करूँ तो अकेला, संसार में रुलूँ, संसार से छूटूँ तो अकेला, सर्व स्थितियों में यह अकेला ही अपने आपका अनुभव करने वाला होता है। यहाँ यह अन्यत्व भावना चल रही है। यह मैं अकेला सर्वपदार्थों से न्यारा हूँ। जहाँ शरीर भी अपना नहीं है वहाँ अपना और दूसरा कौन हो सकता है? घर सम्पदा परिजन ये तो प्रकट पराये हैं। दोनों भावनाओं में इस लक्ष्य पर दृष्टि दिलाई गई है कि आत्मा का शरण केवल अपने आप है। अपना शुद्ध आचरण है तो यह सुख पायेगा, अपना अशुद्ध आचरण है तो यह क्लेश पायेगा। भले ही कुछ पुण्य का उदय हो और अशुद्ध आचरण ढक जाय, लेकिन यह गाड़ी कहाँ तक चलेगी?

पुण्य पाप का फल—संसार के जीव पुण्य और पाप के अनुसार ही खोटा और बुरा फल भोगा करते हैं। जब जीव के पुण्य का उदय होता है तो सांसारिक सुखों के साधन पता नहीं कैसे किस उपाय से एकत्रित हो जाते हैं और जब पाप का उदय होता है तो पता नहीं, विपदाओं के साधन विकसित उपाय से कैसे बन जाया करते हैं? एक बहुत प्रसिद्ध दृष्टान्त है—

यदालक्ष्मीः समायाति नारिकेलफलाम्बुत्। यदा विनश्यते लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत्।।

जब लक्ष्मी आती है तो नारियल के फल में पानी जैसे कहाँ से आ जाता है? नारियल का छिलका अत्यन्त कठोर है, उसमें सूई भी प्रवेश नहीं कर सकती, किन्तु सैरों पानी उसमें कहाँ से आ जाया करता है? इसी प्रकार जब जीव के पुण्य का उदय है तो लक्ष्मी जिन किन्हीं भी उपायों से आ जाती है और जब विनष्ट होती है लक्ष्मी, पाप का उदय आता है तो आप बतलाओ हाथी कैथ खा लेता है और एक दो दिन बाद जब लीद करता है तो वह कैद बिल्कुल हलका हो जाता है, उसमें न कहीं छेद हुआ, न कहीं दरार, किन्तु सारा का सारा सर कैसे निकल जाता है? कहाँ चला जाता है? कहाँ खिंचकर बाहर हो जाता है, ऐसे ही ये साधन पाप के उदय में कैसे विलीन हो जाते हैं, इसको कोई नहीं जानता।

पुण्य पाप दोनों से आत्मकल्याण का अभाव—ये संसार के ठाठ पुण्य और पाप के खेल हैं, लेकिन श्रद्धा यही बनानी चाहिए कि न तो पुण्य से मेरे आत्मा का भला है और न पाप से मेरे आत्मा का भला है। पाप से तो भला है ही नहीं, सारा जग कहता है किन्तु पुण्य से भी क्या भला होगा? पुण्य बँधा तो सम्पदा

मिली, अनाप सनाप भाव बने, मान जगा, कषाय जगी, आत्मदृष्टि का अवसर न मिला तो उन कषायवृत्तियों में रह रहकर दुर्गति जाना पड़ेगा। पुण्य से काहे का भला, पाप से तो भला है ही नहीं। आत्मा का भला तो धर्म से है। तीनों बातें जुदी-जुदी हैं—पुण्य, पाप और धर्म। पाप तो अशुभ का नाम है। पुण्य प्रभुभक्ति, देवभक्ति, परोपकार, शील, तपश्चरण इन शुभ क्रियाओं का नाम है और धर्म—यह मैं आत्मा सबसे न्यारा ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, ऐसी रुचि जगना, दृष्टि बनना और ऐसा ही समझने में जानने में स्थिर रहना ऐसी जो एक परमार्थ पुरुषार्थ की वृत्ति जगती है उसका नाम है धर्मपालन। पाप से मिलती है नरकादिक दुर्गति पुण्य से मिलते हैं स्वर्गादिक सद्गति और धर्म से मिलता है सदा के लिए सांसारिक संकटों से मुक्ति। जैसे अपने आपको अकेला निरखने से इन जीव को शान्ति का अनुभव होता है ऐसे ही सबसे न्यारा अपने को निरखने से शान्ति का अनुभव होता है।

काल्पनिक क्लेशों का कर्षण—जगत् के जीवों को और दुःख है क्या? केवल लगावा सम्बन्ध मान लिया, बस इस ही में क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। जहाँ लगाव है वहाँ बन्धन है, जहाँ लगाव नहीं वहाँ बन्धन नहीं। वस्तुतः वहाँ भी कोई बन्धन नहीं। सिर्फ कल्पना से लगाव मान लिया है इसलिए वहाँ खेद होता है। इस जीव की विजय शुद्ध परिणाम रखने में है। बाह्य पदार्थों में आसक्त होकर रागी मोही बनकर उनकी व्यवस्था बनाने से आत्मा का उत्कर्ष नहीं है, किन्तु जिस विशुद्ध परिणाम के प्रताप से सर्व योग्य साधन मिले है उन विशुद्ध परिणामों को बनाये रहने में ही आत्मा की विजय है। कुछ भी स्थितियाँ आयें आत्मा की निर्मलता में बाधा न डालें। कितना ही दुःख होवे, कितना ही अनिष्ट वियोग होवे, सर्व स्थितियों में सहनशीलता होनी चाहिए। कहीं कष्ट से घबड़ाकर अपनी धर्मरुचि को न छोड़ दें।

सुख, दुःख, बन्ध, मोक्ष की एक-एक सामान्य पद्धति—धर्म नाम आत्मा के स्वभाव के विकास का है। व्यवहार में जो भिन्न-भिन्न देव माने गए हैं, गुरुजन हैं, शास्त्र हैं, ये अनेक आश्रय हैं जो आश्रय एक इस धर्मभाव में लगाने के लिए हैं ये आश्रय स्वयं धर्म नहीं हैं और इस व्यवहारिक आश्रय का पक्ष करना भी एकान्त करना भी इस जीव के लिए हितप्रद नहीं है। उनसे काम निकाल लो। वीतरागता और सर्वज्ञता की ओर झुकाव बने, उसके लिए उनकी भक्ति और सेवाओं से अपना काम निकाल लें। धर्म का पालन तो रागद्वेष रहित होकर ज्ञाताद्रष्टा रहने में है। जैसे मनुष्य सब एक विधि से उत्पन्न होते हैं चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलिम हो, ईसाई हो, सभी एक स्थिति में पैदा होते हैं, और एक विधि से मरते हैं। इस प्रकार सुख भी हम संसार में मानते हैं तो एक विधि से मानते हैं और दुःख भी एक विधि से मानते हैं। जो बात असल है, जो बात वस्तु में है उसे कोई मिटा नहीं सकता। ऐसे ही समझो कि जगत् में जितने भी आत्मा है उन सब आत्माओं को संसार में रूलने का कारण यह एक ही विधि है। परपदार्थों का ग्रहण करना, परपदार्थों से हित मानना, परपदार्थरूप यह मैं हूँ, ऐसी प्रतीति बनाना ये सब हैं दुःख के कारण, संसार भ्रमण के कारण। कोई भी जीव हो, इसी तरह आनन्द का साधन मुक्ति का उपाय भी सब जीवों का एक ही प्रकार का है, वह है

मोह रागद्वेष से दूर होना। अपने स्वरूप का अपने ब्रह्मत्व का यथार्थ परिज्ञान होना, यही है संसार के संकटों से छूटने का उपाय।

भैया ! अपने आपको आत्मा मानों और आत्मत्व के नाते से ही सब परख बनाओ। मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, अमुक मजहब का हूँ, अमुक परिवार वाला हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ, ऐसी इस मायाजालरूप लगाव की बातों में पड़कर अपने हित की बात मत खोजो। सब धोखा है और केवल अपने आपको आत्मा मानो। मैं आत्मा हूँ, मुझे आनन्द चाहिए, मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानज्योति है में स्वभाव से ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, मुझे ऐसा ही ज्ञानप्रकाशमात्र रहना चाहिए, ऐसी रुचि जगाएँ, ऐसा उद्यम करें तो धर्मपालन होगा। धर्म नाना नहीं होते हैं। धर्म एकस्वरूप होता है और वह अपने अन्तःपरिणामों से सम्बन्ध रखता है।

आत्मधर्म की संभाल—हे आत्महितैषी आत्मन् ! अपने-अपने धर्म को संभाल लीजिए अर्थात् अपने भाव में मोह रागद्वेष को मिटा लीजिए। समग्र वस्तुओं के केवल जानन देखनहार रहो, यही धर्मपालन है, ऐसा जिसने किया और इस पुरुषार्थ के प्रताप से जो निर्दोष और परिपूर्ण विकास वाले हों वे ही तो हमारे प्रभु हैं और ऐसा बनने का जो यत्न करते हैं वे ही हमारे गुरु हैं, ऐसी बातें सिखाने की जहाँ लिखी हुई हैं वही हमारे शास्त्र हैं, उपदेश हैं। मैं आत्मा हूँ, मेरे साथ आत्मा का ही नाता है, देह का नहीं और इस देह के कारण जो जो कुछ व्यवहार में विडम्बनाएँ बनती हैं उनसे भी कुछ नाता नहीं है। केवल आत्मा के नाते से मैं अपने हित का निर्णय करूँ, इसमें ही इस दुर्लभ नरजीवन की सफलता है।

श्लोक-145

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः।

अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव॥145॥

प्रत्येक की एकता—हम आप जो कुछ भी नजर आ रहे हैं ये एक एक नहीं हैं, ये अनेक जीवों के पिण्ड बैठे हुए हैं। किसी भी एक मनुष्य को उदाहरण में ले लो, यह दिखने में तो एक मनुष्य आ रहा है किन्तु जीव जरूर एक है एक भी क्या, शरीर के अंग-अंग में असंख्यात जीव और पड़े हुए हैं। खैर, उनसे हमारे व्यवहार की बात नहीं है। हम तो उस एक से व्यवहार की बात लगा रहे हैं, जो समझता है, जो इस शरीर मुख्य अधिष्ठाता है। इस पिण्ड में जिसे हम एक मनुष्य कहते हैं एक तो जीव है और जिन परमाणुओं से शरीर बना है ऐसे अनन्त परमाणु हैं। एक चीज वह कहलाती है जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके। एक कभी आधा नहीं होता यह स्वरूप का अटल नियम है। कोई व्यवहार में ऐसा कहे कि देखो यह

एक गन्ना है ना, इसके 10 टुकड़े कर दें। अरे वह गन्ना एक चीज ही नहीं है। गन्ने में छोटे-छोटे कितने ही अंग बनते हैं वे तोड़ने से बिखर गए, जुदे-जुदे हो गये। यह चौकी है, इसे लोग कहते हैं कि यह एक है। यह एक चीज है ही नहीं। इसके अविभागी अंश अनन्त हैं और उन अनन्त अंशों का यह पिण्ड है। जो एक वस्तु होती है उसका कभी भाग नहीं होता, वह आधा नहीं होता।

प्रत्येक जीव की अखण्डता—हम आप जीव हैं। एक एक चीज हैं तो इस जीव का कहीं आधा-आधा भाग हो सकता है? मैं आधा शरीर में ही बैठा रहूँ और आधा इस शरीर से कहीं बाहर बैठ जाऊँ, ऐसी सामर्थ्य है क्या किसी में? नहीं है। वह तो एक ही है। कभी ऐसा हो जाता है कि शरीर का कोई अंग टूट गया, मानो एक अंगुली टूट गयी, चार हाथ आगे गिर गयी। वहाँ तो अंगुली भी कांपती हैं, यहाँ हम भी काँपते हैं। तो वहाँ उस समय कुछ देर तक के लिए अंगुली में भी जीव है , हममें भी जीव हैं, पर इस तरह यह जीव नहीं फैला कि कुछ अंगुली में जीव है, कुछ हममें जीव है। उस अंगुली से लेकर यहाँ हम तक जो चार-छः हाथ का अन्तर है उस पूरे क्षेत्र में वह एक जीव है, पश्चात् वे हम बाहर फैले हुए प्रदेश समेट कर शरीर में प्रवेश करते हैं और वह भाग अकेला अचेतन होकर पड़ा रहता है। एक जीव का कभी भाग नहीं होता।

दृश्यमानों में भी प्रत्येक में एकता—इन दिखने वाले पदार्थों में परमाणु है वास्तविक चीज, जिन परमाणुओं के सम्बन्ध से यह पिण्ड बना है, उस परमाणु का भाग नहीं होता। दिखने वाले लोगों में किसी एक को उदाहरण में ले लो, इसमें जीव तो एक है और अनन्तानन्त शरीर के परमाणु हैं और उससे अत्यन्त गुणे अनन्तानन्त कर्मों के परमाणु हैं। यों अनन्त पदार्थों का ढेर है यह जीव, जो इसकी दृष्टि में आ रहा है और इसीलिए यह मायारूप है। यह सदा ही ऐसा रह सके ऐसा तो नहीं है, बिखर जाता है, मिट जाता है, जुदा हो जाता है। यह सब मायाजाल है। इस मायाजाल में जो लोग विश्वास रखते हैं कि यह सही वस्तु है, हमारे हितरूप है, वे जीव जो संसार में संकट सहते हैं, जन्म लेते हैं और मरते हैं और जो इन सबमें सबको जुदा-जुदा निहारते हैं, इसमें एक-एक परमाणु तत्त्व है, यह एक जीव तत्त्व है। यों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र-स्वतंत्र निहारते हैं, उनके मोह नहीं होता। तब यह जीव मुक्ति के मार्ग में बढ़ता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आत्मभक्ति में परमात्मत्व का दर्शन—हमें अपना विश्वास अन्तः यह रखना चाहिए कि मैं देह से न्यारा यह ज्ञानमात्र आत्मा हूँ और इस मुझ आत्मा को आनन्द चाहिए और आनन्द मिलता है इस अपने स्वरूप की सेवा से। तभी लोग कहते हैं—घट-घट में परमात्मा बसता है, वह कहाँ बसता है और कैसे उसका दर्शन होता है? इसका कुछ प्रकाश मूल से किसी को मिला है? उन्हें मिला है जो अपने को बाहर में किसी जगह प्रभु को निहारने की चेष्टा नहीं करते। जब घट-घट में परमात्म है तो हम बाहर में आँखें खोलकर कहाँ देखें जहाँ यह परमात्मा मिलेगा? जब मुझमें ही परमात्मा है, घट-घट में परमात्मा है, प्रत्येक देह में परमात्मा है तो बाहर दृष्टि न करके , बाहर से दृष्टि मोड़कर, अपने आपमें स्वयं निर्विकल्प होकर परमविश्राम लेकर निहारना

चाहिए, वहाँ परमात्म का दर्शन होगा, प्रभु का दर्शन, निरुपम आनन्द का अनुभव करते हुए ही हो सकता है, दुःखी रहकर परमात्मा का दर्शन नहीं होता। मैं दुःखी रहूँ, चिन्ताओं में बसूँ, शोक में बना रहूँ और प्रभुदर्शन हो जाय, यह नहीं हो सकता। मैं कषायों को हल्का करूँ, मोह को दूर करूँ, विकल्पों से मुख मोड़ूँ, अपने आप शुद्ध विश्राम से रह जाऊँ वहाँ जो एक सुगम स्वाधीन अनुपम आनन्द प्रकट होता है। उस आनन्द का अनुभव प्रकट करते हुए की स्थिति में परमात्मस्वरूप का दर्शन होता है। ये सब कल्याण की बातें, एकत्व भावना और अत्यन्त भावना से प्राप्त होती है।

आत्मनिर्णय के लिए आवश्यक मूलज्ञान—मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। इस आत्मा के अनुभव के लिए अधिक परिश्रम न करना चाहें तो 50-60-70 वर्ष के जीवन में कभी दो चार मिनट तो आत्महित के लिए सच्चाई के साथ उद्यम कर लें तो कौनसा घाटा पड़ जायेगा? ये जीव सभी अपनी-अपनी कल्पनाओं के साथी हैं, अपने स्वार्थ के साथी हैं, अपने सुख के साथी हैं। किसी जीव का किसी दूसरे जीव में प्रवेश ही नहीं होता। इतना तो पहिले समझना ही होगा। ये धन वैभव, ये जड़ पदार्थ जड़ ही हैं। इन जड़ पदार्थों से मुझ आत्मा में कोई आनन्द अथवा स्वरूप का विकास नहीं होता। कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए।

आत्मनिर्णय के लिए सत्याग्रह की आवश्यकता—अब इस ज्ञान के आधार से अपने आपको सत्य के आग्रह में ले जाइए। यहाँ के ये सारे समागम असत्य हैं मेरे लिए। सत्य तो मेरे लिए मेरा ही एक स्वरूप है। अब पर में उपेक्षा कर दीजिए, किसी परतत्त्व का ख्याल न रखिये। इस चित्त में जो भी (परवस्तुयें) आती हों ज्ञान से तुरन्त उनको रोक दें, मत आने दें। मैं इस समय सत्य के आग्रह में लगा हूँ, मैं अपने आप सत्य का निर्णय करना चाहता हूँ, मैं लोगों की बातों में आकर निष्पक्ष दर्शन का निर्णय कर सकूँगा, इसमें मुझे शंका है क्योंकि गुरु बहुत हैं, मजहब बहुत हैं, परिपाटियां बहुत हैं। जो जिस कुल में पैदा हुआ है वह अपने कुल की गाता है। तो हम क्या आशा रखें किसी दूसरे से कुछ सुनने की कि मैं समझ जाऊँ कि सत्य क्या है? अब तो इसका यह निर्णय किया है कि जब मैं स्वयं ज्ञानरूप हूँ, समझनहार हूँ तब मैं स्वयं अपने आपमें सत्य का क्यों न निर्णय कर लूँ? मुझे किसी परपदार्थ से प्रयोजन नहीं। जो भी चित्त में आये उस सबको रोको। मेरे ज्ञान में मत आओ, मुझे किसी पर को नहीं जानना है। इन सब परपदार्थों के ख्याल को दूर करके एक परमविश्राम से बैठ तो जाइए। जैसी जो स्थिति हो वह मुझमें अपने आप प्रकट होकर बतायेगी कि तत्त्व यह है सत्य जानने के लिये आग्रह करके बैठ तो जाइये।

सत्याग्रह के साथ असहयोग का आन्दोलन—सत्य का आग्रह करने के साथ-साथ परपदार्थों का असहयोग भी कर दो। सत्याग्रह और असहयोग—इन दोनों उपायों को तो करो। अपने आपमें बसे हुए सत्य का तो आग्रह करो। मैं अपने आप समझूँ कि सत्य क्या है और समस्त परपदार्थों से असहयोग कर दो कि मुझे तुम्हें नहीं जानना है। तुम ख्याल में मत आओ, बाहर हट जाओ। इस प्रकार इस सत्याग्रह और

असहयोग के साधन से अपने आपको आनन्द का मार्ग स्वयं विदित हो जायेगा और वह इस अनुभूति के साथ विदित होगा कि मैं प्रति क्षण यह प्रेरणा कर लूँ कि बस मैं अपने आपके आत्मा का नाता लगाऊँ। मुझे आनन्द पाना है, शान्ति पानी है, मुझे धन वैभव परिजन इत्यादि किसी से कुछ प्रयोजन नहीं। मुझे तो एक शुद्ध होना है, आनन्दमय होना है, सत्यज्ञानी बनना है, उसमें ही हमारा कल्याण है ऐसा आग्रह करें और परपदार्थों से अपने को दूर रखने का प्रयत्न करें तो अवश्य ही कल्याण प्रकट होगा।

आत्मविजय का प्रयोग—यह देह और यह देह मैं आत्मा, यह दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं। देह तो अचेतन है और यह मैं आत्मा अचेतन हूँ, और इस वर्तमान स्थिति में इस देह से बंधा हुआ हूँ, अनादिकाल से बन्धन है। जैसे स्वर्णपाषाण और उस स्वर्ग में अनादि से बन्धन है, पर प्रयोग द्वारा मशीनों द्वारा उस स्वर्णपाषाण को दूर करके स्वर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही भेदविज्ञान द्वारा इस शरीर को दूर करके अपने आपके स्वरूप को ज्ञान में ग्रहण करके इस शरीर से छुटकारा पाया जा सकता है। बस यही है मोक्ष। मोक्ष ही परम हित है, क्योंकि मोक्ष में आकुलता नहीं है, वहाँ कैवल्य है और उपाधि का सम्बन्ध नहीं है। उस कैवल्य अवस्था को पाने के लिए हम अभी से अपने को केवल निरखने लगे तो हम उस अवस्था को पा सकते हैं। मैं शरीर से जुदा हूँ, ज्ञानमात्र हूँ केवल ज्योतिस्वरूप हूँ, ऐसी रुचि ऐसी प्रतीति और ऐसा अनुभव करने का यत्न हो, यही है वास्तविक धर्मपालन और इसमें ही परम शान्ति प्राप्त होती है।

श्लोक-146

इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम्।

(शरीर मुह्यते) मोहाच्येतनेनास्तचेतनम्॥146॥

मोहवश शरीर का वहन—इस जगत् में मोहवश इस अमूर्तिक जीव को, इस मूर्तिक शरीर को अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ता है। यह आत्मा अमूर्तिक है, शरीर मूर्त है, विलक्षण लक्षण है फिर भी इस जीव को यह शरीर अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ रहा है। यह जीव चल है, इसमें तो उर्ध्वगमनशक्ति है और यह शरीर अचल है, अर्थात् इसमें अपने आप चलने का कोई माद्दा नहीं है। मुर्दा शरीर जो है उसकी तरह यह शरीर है, लेकिन इस जीव के साथ यह शरीर कैसा लगा फिर रहा है? जीव चेतन है और शरीर अचेतन है। कोई मित्रता की गुञ्जाइश नहीं है, भिन्न-भिन्न स्वरूप है लेकिन मोह के कारण इस जीव को कैसा शरीर के साथ लगा रहना पड़ रहा है? अन्यत्व भावना के इस प्रकरण में यह बात दिखाई जा रही है कि यह शरीर जीव से कैसा तो पृथक् है और कैसा यह सम्पर्क बीत रहा है।

क्लेशों का कारण काय—सच समझिये कि इस जीव को जितने भी क्लेश हैं वे सब इस शरीर के कारण हैं। शरीर के कारण से ही तो भूख, प्यास, ठंड, गर्मी के दुःख सहने पड़ रहे हैं। जीव के स्वरूप में भूख, सर्दी, गर्मी कहाँ है? जितने रोग हैं वेदनाएँ हैं वे सब इस शरीर के कारण ही तो सहने पड़ते हैं। इष्ट का वियोग हो तो उसमें यह दुःख मानता है। ये दुःख इस शरीर के सम्बन्ध से ही तो लग रहे हैं, हम यों शरीर वाले हैं। जब दूसरे शरीर वाले को देखकर इष्ट अथवा अनिष्ट मानते हैं, शरीर रहित केवल यह मैं स्वयं ही होऊँ उसको फिर इष्ट क्या अनिष्ट क्या? शरीर लगा रहने के कारण विषयों के साधनों की वृत्ति होती है और विषयसाधना का कार्य पड़ा हुआ है, इस कारण दूसरे इष्ट भी अनिष्ट जंचने लगते हैं। शरीर भी रहा आये, पर शरीर न रहने की तरह हो जाय अर्थात् यह जीव विषयों का साधन न बनाये, न करे तो फिर कौन इसके लिए इष्ट है और कौन अनिष्ट है? तो इष्टवियोग का दुःख होता है वह भी शरीर के सम्पर्क के कारण। अनिष्ट संयोग का दुःख होता है वह भी शरीर के सम्बन्ध के कारण। कोई भी जीव केवल अपने शुद्ध स्वरूप के लिए इच्छा नहीं बढ़ाता। शरीरादिक परद्रव्यों का इसने अपनायत किया है तब इसके इच्छा जगी। है कोई ऐसा जीव जो शरीर में अपनायत न करे शरीर के विषयों के साधनों में रंच भी वृत्ति न जगाये और फिर निदान बाँधे इच्छा करे। कर ही नहीं सकता।

शरीर में सारहीनता—इस शरीर में सार का नाम नहीं है, मल से भरा हुआ पिण्ड है यह। कोई इस शरीर में उत्कृष्टता नहीं, विवेक नहीं, बुद्धि नहीं। किसी भी ढंग का तो नहीं है शरीर, लेकिन मोहवश यह जीव इस शरीर को ही अपना सर्वस्व समझता है। जब तक शरीर लगे रहेंगे तब तक जीव को संकट है। संकट तभी छूटेगा जब शरीर का कर्मों का बन्धन मिटेगा।

विवेकी का मूल लक्ष्य—प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का कोई न कोई एक मूल लक्ष्य बनाए रहते हैं। किसी के लक्ष्य में यह है कि मैं अच्छे परिवार वाला बनूँ, लड़के बहुत निपुण बन जायें, किसी के लक्ष्य में यह है कि मैं धन में सबसे अच्छा कहलाऊँ, किसी के चित्त में यह है कि मैं देश का अधिकारी बनूँ। प्रत्येक मनुष्य अपना कोई न कोई मूल लक्ष्य लिए हुए रहता है, किन्तु विवेकी मनुष्य वही है जो सबका यथार्थस्वरूप जानकर अपना यह लक्ष्य बनाए कि मुझे तो जैसा मैं केवल हूँ उस प्रकार रहना है।

आत्महित की योजना—जैसे देशों के हित में कोई योजना ऐसी हो कि 20 वर्ष बाद सफल हो, 50 वर्ष बाद सफल हो तो देशवासी उसे करते हैं ना। कोई पूछे—क्यों करते हो, तुम तो 10-5 वर्ष में ही मर जाओगे। क्या पता कि क्या होगा, क्या न होगा, पर देश की बात एक देश जैसे व्यापक ढंग से सोची जाती है, इस कारण 20-50 वर्ष बाद भी जो प्रभाव बन सकेगा उसका उद्यम अभी से किया जाय, पर यह अपने आत्मा के बारे में जो अनन्त काल जैसी व्यापक बात सोचता है, उसके लिए एक भव नहीं, चाहे 10 भवों में सिद्धि मिले, किन्तु उसकी योजना और उस योजना पर कुछ अपना अमल अभी से करने की जरूरत है।

अपना मूल लक्ष्य यह होना चाहिए कि मुझे तो समस्त परवस्तुओं से रहित केवल निजस्वरूप मात्र रहना है, मेरा तो यही प्रोग्राम है। सफल कब होंगे—5 वर्ष बाद हो तो भी क्या? एक भव में भी हों तो भी क्या, कभी हों, पर ऐसा किए बिना गुजारा तो नहीं है, अतएव यह लक्ष्य अभी से बना लेना चाहिए।

भेदविज्ञान से प्रगति—जिनका आत्मस्वरूपविकास का लक्ष्य बना होगा वे शरीर में रहते हुए भी शरीर ढो नहीं रहे हैं। जीव जीव में, शरीर शरीर में हैं। जो होना है वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से हो रहा है, पर मोह न होने से यह शरीर का ढोने वाला भी नहीं कहा जा सकता है किन्हीं अंशों में। यहाँ अपने आप पर दृष्टिपात कीजिए कि मैं क्या हूँ और कहाँ जुत रहा हूँ? मैं कैसा निर्भार हूँ और कैसा भार में पड़ गया हूँ। मैं कैसा सूक्ष्म अमूर्त अव्याबाध तत्त्व हूँ और इसकी आत क्या स्थिति बन रही है? ऐसा विचार विवेक बनाने से स्वयं से वह प्रगति जगेगी जो अपने लिए हितकारी होगी।

श्लोक-147

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीर मिदमडि.नाम्।

उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः॥147॥

शरीर की मायारूपता—जीव का यह शरीर अणुओं के समूह से बना हुआ है। जैसे बालू के ढेर से बना हुआ कोई घर बूला हो तो वह असार जंचता है और जरा से धक्के में सब विघट जाता है उसी तरह यह शरीर है। परमाणुओं के समूह से बना है, असार है, स्वयं कुछ धनरूप नहीं है और जरा से प्रसंग में यह बिखर जाता है। इस प्राणी का यह शरीर जिस पर प्राणी बड़ा नाज करता है यह शरीर असार है। जब तक इस शरीर का मल शरीर में ढका रहता है तब तक यह सुहावना जंचता है और किसी भी जगह नाक से, मुख से, थूक लार कुछ भी मल व्यक्त हो जाय तब फिर इसका असारपना स्पष्ट जंचने लगता है। उसकी भी बात जाने दो, कोई यदि अपनी नाक में अंगुली डालकर नाक का मल निकालता है तो दूसरों को भी यह बात विदित हो जाती है कि इसमें इस प्रकार का मल है और इसे निकालता है। इतनी ही दृष्टि आने पर असारता जंचने लगती है। यह तो बना हुआ मिट्टी का पुतला जैसा है। मिट्टी का पुतला भी अच्छा उसमें हाड़, मांस, खून तो नहीं। यह बाहर से देखने में कुछ सुहावना जंच रहा है किन्तु यह शरीर तो सर्व मलों का घर ही है।

नरदेह से लाभ उठाने का उपयोग—भैया ! उपयोग लगाने की बात है। मलवाले शरीर का भव ही हमारे कल्याण का एक बाह्य साधन बनता है। जिनका दिव्य शरीर है, हाड़ मांस से रहित है ऐसे दिव्य शरीर से

कल्याण और उन्नति की बात नहीं बनती। ऐसा दिव्य शरीर है देवों का हम आपका शरीर अपवित्र है, बीच में ही हम आपकी मृत्यु हो जाती है, ये दो ऐब इसमें ऐसे हैं और तीसरा है इष्ट वियोग का ऐब। ये ऐब इसमें हैं, लेकिन ये ही ऐब इसके वैराग्य के खास सहायक बन जाते हैं। शरीर अशुचि है अतएव यह वैराग्य का कारण बनता है। बीच में जब चाहे मरण सम्भव है तब धर्म धारण करने की इसके उलायत बनती है। शीघ्र इस धर्म को धारण कर लो। यहाँ इष्टवियोग होता है तो यह भी सम्वेग और वैराग्य का कारण बनता है।

भेदभावना का उपयोग-जीवों का यह शरीर जैसा जो कुछ भी है उससे यह आत्मा अत्यन्त विलक्षण है। शरीर जड़ है तो यह आत्मा उपयोगमय है। शरीर इन्द्रियमय है, यह आत्मा अतीन्द्रिय है। शरीर भी अनेक पदार्थों के समूह से बना है। तो यह जीव केवल अपने स्वरूप को बनाता है, इतना अत्यन्त विलक्षण होकर भी शरीर और जीव की यह अनिष्ट मित्रता यह अनिष्ट घनाश्लेष इस जीव को ऐसा दुःख के लिए लग गया है कि जिसके कारण यह अनादि से अब तक ऐसे ही क्लेशों में पड़ा चला आ रहा है। हम शरीर को अन्य समझें, अपने को उससे जुदा समझें और शरीर से उपेक्षा परिणाम रख सकें और अपने आपकी ओर रुचि कर सकें तो ऐसी वृत्ति से ही हम आपका यह दुर्लभ नर-जीवन सफल है, ऐसा अपना निर्णय रखिए।

श्लोक-148

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः।

यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते॥148॥

सर्वविदित अन्यपना—यद्यपि यह शरीर और आत्मा परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं तो इस संसाररूपी पिशाच से पीडित यह मोही प्राणी क्यों नहीं देखता है कि यह शरीर अन्य है और मैं उससे अत्यन्त विविक्त हूँ। यह अन्यपना जन्म तथा मरण के समूह के प्रसंग में सर्वलोगों की प्रतीति में आता है अर्थात् जब शरीर को साथ नहीं लिया और मरता है तब यह शरीर साथ नहीं जाता। मुट्टी बांधकर आया है, हाथ पसार कर जाना है, दो दिन का सब खेल तमाशा मिट्टी में मिल जाना है।

शरीर की दशा—एक बार कोई घमंडी पुरुष इतराकर चल रहा था। चलते हुए में एक उभरी हुई जमीन से उपटा लग गया तो कुछ मिट्टी खुद गई। तो मिट्टी कहती है—अलंकार में कवि की भावना देखिये—मिट्टी कहती है—अरे तू क्या घमंड से चल रहा है। तूने जो मेरे में घाव पैदा कर दिया मिट्टी कंकड जो निकल गए पैर की ठोकर से जो मुझमें घाव बन गया है इस घाव का तो तू पैबन्द है अर्थात् तेरी मिट्टी से मेरा घाव भर जायेगा शरीर मिट्टी रूप बन जायेगा तो जमीन में एकसा हो जायेगा। तू क्या अभिमान करता है अर्थात् यह

भी मिट्टी है। पहिले समय में लोग मांस का नाम नहीं लिया करते थे। जैसे किसी के बारे में कहना है कि वह मांस खाता है तो यों नहीं कहते थे। यों कहते थे कि वह तो मिट्टी खाने लगा, वह तो गंदी चीज खाता है। इतना शाकाहार का दृढ़ संकल्प था जनता का। तो यह मिट्टी में मिल जायेगी, इस शरीर पर क्या इतराना। इस शरीर को देखकर क्या अभिमान करना? शरीर से भिन्न अपने आपके इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को निरखो तो इसमें कुछ कल्याण भी मिलेगा। इस शरीर के प्रेम में रहकर तो यह जीवन व्यर्थ खोया समझिये।

श्लोक-149

मूर्तेविचेतनेश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः।

यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः॥149॥

सम्बन्ध न होने पर भी शरीर का थोपा जाना—मूर्तिक चेतनारहित नाना प्रकार के स्वतंत्र परमाणुओं से बना हुआ यह शरीर और अमूर्तिक चैतन्यमय केवल अपने अखण्ड एकत्व को लिए हुए यह आत्मा, इन दोनों में एक विचार तो करो कि क्या सम्बन्ध है? आत्मा का शरीर क्या लगता है? जैसे यहाँ कल्पना में यह मानते हैं कि यह मेरा पुत्र है, मित्र है, भाई है। इस शरीर के साथ तो बताओ क्या नाता है? यह शरीर तुम्हारा कौन है? लड़का या बाप है? कौन लग रहा है यह शरीर? कुछ सम्बन्ध भी तुमसे है क्या? अत्यन्त तो भिन्न स्वरूप है, कुछ भी सम्बन्ध नहीं है लेकिन यह तो उपद्रव लगा है कि जो शरीर में बँधे-बँधे फिरते हैं। अरे आत्मन् ! तुम्हें आनन्द ही तो चाहिए या शरीर का सम्बन्ध चाहिए? अरे आनन्द जिस पद्धति में मिले, जिस उपाय से प्रकट हो उस उपाय में बढ़िये। शरीर का सम्बन्ध तो क्लेश का ही कारण होगा। यह शान्ति का कारण तो हो ही नहीं सकता।

शरीर से हित का अभाव—आत्मा में शान्ति परिणमन करना है उस शान्ति परिणमन में यह शरीर कैसे साधक बनेगा? कोई ढंग भी है क्या? शरीर पर दृष्टि जायेगी जीव की तो इसका भाव यह है कि अपने स्वरूप से चिगकर बाहर में दृष्टि जायेगी, सो बाहर में ऐसी दृष्टि का लगना क्षोभ से भरा हुआ है। बाहर की ओर दृष्टि जाना ही क्षोभ का एक स्वरूप है। क्या सम्बन्ध बना है, किसी काम आया और शरीर? जैसे दुष्ट मित्र, मूर्ख मित्र चाहे वह किसी परिस्थिति में प्रेम का बर्ताव करता हो, पर जिसका चित्त दुष्ट है अथवा जिसमें अज्ञान पड़ा हुआ है उससे सुख सन्तोष साता की क्या आशा की जा सकती है? ऐसे ही समझिये कि यह शरीर किसी परिस्थिति में किसी हद तक किन्हीं कल्पनाओं में यह भला जँचता हो लेकिन यह अज्ञ है और दुष्ट है,

भिन्न है। इस शरीर से अपने सुख अथवा शान्ति की क्या आशा की जा सकती है? क्षोभ को व दुःख को ही एक आराम मान ले कोई मोहवश तो उसका यह मानना उसके घर की कल्पनाएँ हैं—जो चाहे कर लो, पर सुख शान्ति इस शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव को नहीं हो सकती है।

आत्महितोद्यम—भैया ! इस शरीर से अपने को भिन्न परखकर इसके खातिर विकल्प न बढ़ायें और अपने आपका स्वरूप अपने आपमें ही रत रहे, स्थिर रहे, स्वयं स्वयं में मग्न हो सकें, ऐसी स्थिति बनाने का लक्ष्य रहना चाहिए। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब फिर अन्य जीव मेरे क्या हों? जैसे चमड़ा ही नहीं रहा शरीर पर तो रोम कहाँ ठहरेंगे? यदि बाह्य वैभव का अन्य सब समागमों का मोह मिटाना है तो पहिले इस देह का ही मोह मिटा लीजिए ना। जब अपने आपको देह से प्रकट निराला आप स्वयं जंचने लगेंगे तो यह सबसे निराला अपने को सुगमतया मान ही लेगा। सर्व परवस्तुओं से भिन्न अपने आपको निरखना, यही एक शान्ति के मार्ग में लगा देने वाला मार्ग है।

श्लोक-150

अन्यत्वमेव देहेन स्याद् भृशं यत्र देहिनः।

तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्थं बहिरङ्गैः कुतो भवेत्॥150॥

परपदार्थों से आत्मा के ऐक्य का त्रिकाल अभाव—जब इस प्राणी की इस देह से अत्यन्त भिन्नता है तो बहिरङ्ग जो बन्धुजन परिजन है उनमें एकता कैसे हो सकती है? ये बन्धुजन तो प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई पड़ रहे हैं। एक क्षेत्र में भी नहीं है। तो ऐसे अत्यन्त भिन्न परिजनों के साथ इस देह का एकत्व कैसे हो सकता है? देह का और जीव का अनादिकाल से परम्परा से एक क्षेत्र में रहकर भी स्वरूपदृष्टि से देखो यह अत्यन्त भिन्न है। देह है परमाणुओं से रचा हुआ अर्थात् अनेक पदार्थों का पुञ्ज और जीव है एक अपने अखण्ड स्वरूप वाला। इस चेतन का इन बाह्य पदार्थों से तो सम्बन्ध ही क्या होगा, जब एक क्षेत्र में रहने वाले इस देहरूप निकटीय परपदार्थ से ही अत्यन्त भिन्नता है। देह से अपने आपका भेदविज्ञान जगे तो अन्य जीवों से, अन्य पदार्थों से भेद-विज्ञान इसका स्वयं प्रसिद्ध हो जाता है।

श्लोक-151

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाः चेतनेतराः।

ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वरूपाद्विलक्षणाः॥151॥

समागत पदार्थों की निजस्वरूप से भिन्नता—इस जगत् में जो जो जड़ और चेतनपदार्थ इन प्राणियों के सम्बन्धरूप हो जाते हैं वे सभी सब जगह अपने-अपने स्वरूप से विलक्षण हैं और आत्मा सबसे भिन्न है। जब लोक में सभी पदार्थ हैं तो निकट अनेक पदार्थ होते ही हैं और फिर पूर्वबद्ध कर्मों के अनुसार ऐसे संयोग भी जुट जाते हैं लेकिन यह न भूलना चाहिए कि जो कुछ भी सम्बन्ध में आया है वे सब परपदार्थ हैं, आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। यदि भिन्न न समझेंगे तो निकटकाल में ही बहुत दुःखी होना पड़ेगा। दुःख और है किस बात का जीव को? केवल परपदार्थों के अपनाने का दुःख है, मोह लगा है उसका दुःख है, है यह ऐसा ही एकाकी कि जब तक चाहे यहाँ रहे, जब चाहे चला जाय। इसका किसी से कोई खास सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह जीव मोहवश अपनी ओर से ही समस्त सम्बन्धों बना रहा है समागम में आये हुए सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में हैं, अत्यन्त विलक्षण हैं और भिन्न हैं और यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से हूँ अतः सबसे विलक्षण हूँ और भिन्न हूँ। ऐसी अत्यन्त भावना में अपनी भिन्नता देखनी चाहिए।

श्लोक-152

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च।

सर्वथान्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम्॥152॥

परपदार्थों के अन्यस्वभावत्व की भावना—हे आत्मन् ! इस जगत् में पुत्र मित्र आदिक अन्य वस्तुओं में तू निरन्तर अन्यत्व भावना कर। सभी पदार्थ भिन्न हैं। सन्तोष जब होगा तब इस भावना के आधार पर ही होगा। अतः अपने आपको अकेला देखो और समस्त पदार्थों से न्यारा देखो। बहुत बड़ा झंझट लगा है इस जीव पर। बड़ा विकट बंधन है। किस बात का बन्धन है? जैसा अभी आप अपना सद्व्यवहार बनाये हैं, इसे प्रेरित होकर अनेक पुरुषों का आपकी ओर आकर्षण हुआ है उसके उत्तररूप में आप विचार लो, दिखने वाले जीवों से कितना आप बँधे हुए हैं। संसारी जीव हम आप दिखने वाले लोगों से बँधे हुए है ना? सम्बन्धों को देखकर निष्पक्ष समझ नहीं रह सकती? किसी न किसी प्रकार का क्षोभ करता है यह। रागादिकरूप भाव

करे, जाननरूप भाव करे, कुछ न कुछ इसमें क्षोभ हो ही जाता है जिस किसी को भी देखकर और उसमें भी परिजन को देखकर, वे परिजन भी क्या हैं—स्वप्न जैसा परिचय है। मिट गये, बबूले का क्या परिचय। ऊपर से गिरे हुए जल में बबूला बन गया तो वह कितनी देर को ठहरता है, ऐसे ही यहाँ जो कुछ आकार दिख रहा है कितनी देर का ठहरना है और इसमें सार है क्या?

श्लोक-153

अन्यः कश्चिद् भवेत्पुत्रः पिताऽन्यः कोऽपि जायते।
अन्येन केनचित्सार्धं कलत्रेणानुयुज्यते॥153॥

सम्बन्धों की अन्यता—इस जगत् में कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही कोई पिता होता है, किसी अन्य जीव के ही साथ स्त्री सम्बन्ध होता है। इस प्रकार देखो सारे सम्बन्ध भिन्न-भिन्न जीवों से होते हैं। एक ही जीव खुद का पुत्र बन जाय, खुद का पिता बन जाय, खुद की स्त्री बन जाय, ऐसा तो नहीं है। जितने भी सम्बन्ध हैं वे भिन्न जीवों से होते हैं, अभिन्न से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। सम्बन्ध मानने का अर्थ ही यह है कि ये भिन्न-भिन्न हैं। सम्बन्ध मानकर शिक्षा तो यह लेनी चाहिए कि ये भिन्न-भिन्न हैं, पर स्नेह से यह ग्रहण कर लिया गया कि ये मेरे ही है। ज्ञानी जीव का अद्भुत अन्तः प्रभाव होता है। नरकगति में पहुँचा हुआ जीव इतने विकट उपसर्गों को सहता है मारपीट सहता है और दूसरों को भी मारता पीटता है, इतने पर भी वह अन्तरङ्ग में सम्यग्दृष्टि नारकी है तो श्रद्धा में इन बाह्य क्रियाओं से विपरीत है। इतने दुःख भोगकर भी श्रद्धा में उनके प्रति लगाव नहीं समाया है।

श्लोक-154

त्वत्स्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिताः।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्तलोक्यवर्तिनः॥154॥

समस्त पदार्थों की आत्मस्वरूप से पृथक्ता—इस अत्यन्त भावना के अन्तिम प्रसंग में यह उपदेश दे रहे हैं आचार्यदेव कि हे व्यामोही पुरुष ! तीनों लोकवर्ती समस्त बाह्य पदार्थ तेरे स्वरूप से भिन्न और सर्वथा पृथक्-

पृथक् ही ठहरे हुए हैं, तू उनसे अपना एकत्व मत मान। जो कुछ भी पदार्थ हैं ये इसही कारण हैं कि अब तक ये अपने स्वरूप में तो तन्मय रहे किन्तु किसी भी पर के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सके। इसी से इतने पदार्थों का अस्तित्व है। यहाँ तक सिद्ध कर रहे हैं कि न तो भूतकाल में कभी ऐसी गारन्टी हुई कि किसी पदार्थ ने किसी अन्य पदार्थ के स्वरूप को अपनाया है और न भावीकाल में ऐसी गारन्टी हो सकेगी कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को अपना सकेगा। जब ऐसी स्थिति है तो ऐसा ही मान लें, इस भावना में कल्याण का पथ मिलेगा। आकिञ्चन्य भावना एक बहुत हितकारी भावना है। जीव को सन्तोष आकिञ्चन्य भावना में ही मिलता है। मेरे लिए मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं सबसे न्यारा केवल एक चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी भावना से ही अपने आपकी समृद्धि के दर्शन होते हैं। जो कुछ चाहता है उसको कुछ मिलता नहीं है। जो अपने आकिञ्चन्य स्वरूप को देखता है उसे सर्वसमृद्धि प्राप्त हो जाती है।

कुछ की हठ में कोयला हाथ—एक ऐसा कथानक प्रसिद्ध है कि किसी सेठ ने नाई से हजामत बनवाई, सेठ था डरपोका। प्रायः सभी को नाई पर बड़ा विश्वास रहता है। वह उस्तरा गले में भी चलाता है, जरा सा ही तो उस्तरा दबाने का काम है कि उसका सफाया हो जाय, लेकिन प्रायः सभी को नाई पर बड़ा विश्वास रहता है, किन्तु इस प्रसंग में वह सेठ डरा कि कहीं यह नाई हजामत बनाते हुए में गले में उस्तरा मार न दे। तो नाई से वह सेठ कहता है—देखो अच्छी तरह हजामत बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। नाई ने समझा कि सेठजी धनी आदमी हैं, कोई अच्छी चीज खुश होकर निशानीरूप में देंगे। तो उस नाई ने अच्छी तरह हजामत बना दी। बाद में सेठ चार आने पैसे निकालकर देने लगा। नाई बोला—हम ये पैसा न लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। फिर सेठ 8 आने देने लगा, रुपया देने लगा, अशर्फी देने लगा, पर वह कुछ की जिद में पड़ गया। हम तो कुछ लेंगे। सेठ परेशान होकर कहता है अच्छा उस आले में वह दूध का गिलास रक्खा है, ले आवो, दूध पी लें, फिर तुम्हें कुछ देंगे। नाई जल्दी पहुँचा, गिलास उठाया और गिलास में भरे हुए दूध में देखा कि कोई चीज पडी हुई है तो झट बोल उठा, अरे सेठजी इसमें कुछ पड़ा है। सेठ बोला—क्या कुछ पड़ा है? हाँ कुछ पड़ा है अच्छा तो तू कुछ ही तो मांगता था, वह कुछ तू ले ले, तो भाई उसे क्या मिला? कोयला। जो कुछ चाहता है उसे कुछ नहीं मिलता है। एक अपने आपको आकिञ्चन्यस्वरूप में जो निरखता है, मेरा कहीं कुछ नहीं मैं तो केवल चैतन्यस्वरूप हूँ तो उसे सर्व कुछ मिल जाता है।

मोही मनुष्यों की पशुपक्षियों से भी अधिक पराधीनता—देखो ये पशुपक्षी यहाँ फिर रहे हैं, कुछ खा रहे हैं, किसी ने ललकार दिया तो यहाँ से ओर जगह भाग गए। तो ये पशुपक्षी बड़े निर्लेप मालूम होते हैं। पर इस मनुष्य को कहीं जाना पड़े तो कितना-कितना सामान इसे ले जाना पड़ता है? मुश्किल से क्षेत्र छोड़ता है, कितनी कठिनाई होती है क्षेत्र छोड़ने में? यह तो केवल ऊपरी उदाहरण कह रहे हैं, वे पशुपक्षी तो मनुष्य से भी निम्न हैं, अज्ञानी हैं, लेकिन बाहरी बातें तो देखो—जरासी आहट हुई कि फुर्र करके उड़ गए, उन पशुपक्षियों में तो कोई बन्धन की बात नहीं दिखती है, लेकिन हम आप मनुष्य ऐसे बन्धनबद्ध से हो जाते हैं

कि सब कुछ मुश्किल पड़ जाता है। जाना, रहना, उठना, बैठना—ये सब मुश्किल हो जाते हैं। जब चित्त में कषायभाव भरा है तो यह कहाँ जायेगा, क्या करेगा? ज्ञान ही एक ऐसी प्रकट औषधि है जिससे चिन्ता शोक आदिक समस्त रोग दूर हो सकते हैं। हे आत्मन् ! तू इन समस्त पदार्थों से अपने को भिन्न मान, उनमें अपना एकत्व मत समझ।

श्लोक-155

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं, भावान्स्वान्प्रतिपद्य जन्मगह-ने खिन्नत्वया प्राक् चिरम्।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्, स्वस्थं स्वं प्रविग्राह्य सिद्धि वनितावक्त्रं समालोकय॥155॥

मिथ्यात्वप्रतिबद्धता—हे आत्मन् ! तू इस संसार रूपी गहन वन में मिथ्यात्व के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ सर्वथा एकान्तरूप दुर्णय के मार्ग में भ्रम रूप होकर बाह्यपदार्थों को अपना मानकर चिरकाल से खेद खिन्न होता चला आया है। अब तो समस्त भ्रमों को दूर करके अपने आप ही में रहने वाले इस चैतन्यस्वरूप का अवगाहन कर, सिद्धि के स्वरूप का स्पर्श कर। जितनी जो कुछ भटकनाएँ हैं, चिन्ताएँ हैं, क्लेश हैं उन सबकी जड़ है मिथ्यात्व भाव। निज को निज पर को पर जान लें, फिर दुःख का कोई कारण ही नहीं रहता है। इस मिथ्यात्व के कारण इस जीव में एक एकान्त विपरीत हठ हो जाया करती है।

भ्रमपूर्ण स्वपर का परिज्ञान—लोगों ने अपने-अपने दायरे में कौन-कौन चीज में कैसी अपनायत बनायी है कि उनकी दृष्टि में जंचता है कि इतना वैभव तो मेरा है और बाकी सब गैर का है। ये सब गैर है, यह भी सच्चाई के साथ नहीं जंच रहा है। जैसे भ्रम में आकर अपने अधिष्ठित वैभव को अपना मान लिया, ऐसे ही भ्रम में आकर कुछ वैभव को दूसरे का मान लिया। यह कोई भेदविज्ञान नहीं है। मान लिया कि यह दूसरे का घर है, दूसरे का शरीर है; दूसरा जीव है, ऐसा भर मान लेना यह भेदविज्ञान नहीं है क्योंकि इसने दूसरों को यथार्थरूप दूसरा नहीं माना। जैसे यह जीव अपने लगे हुए देह को 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है इसी तरह परजीवों के द्वारा अधिष्ठित देह को यह पर है, ऐसा मान बैठता है। तो जैसे अपने आपके बारे में देह में और जीव में एक आत्मीयता उपयोग में लायी है। ऐसे ही दूसरों में भी देह में और आत्मा में आत्मीयता उपयोग में लायी है। इस कारण से अपने देह को निरखकर 'यह मैं हूँ' ऐसा मानना जैसे भ्रम है, ऐसे ही दूसरे मनुष्य आदि को निरखकर 'यह दूसरा जीव है ऐसा' मानना वह भी भ्रम है। यदि यह देह से न्यारा चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको समझकर फिर इस चैतन्यस्वरूप को माने कि यह मैं हूँ तो वह विवेक है, ऐसे ही दूसरों के

प्रति भी इन शरीरों से यह भिन्न है, यह भी चैतन्यस्वरूपमात्र है, इस प्रकार निरखे तो वहाँ भेदविज्ञान समझिये।

जरासी बात का बड़ा बतंगड़—यह तो मिथ्यात्व का अंधेरा ही है कि अपने देह को 'यह मैं हूँ' यों मानना और दूसरे देहों को देखकर यह दूसरा है ऐसा मानना। चिरकाल से खेदखिन्न होता हुआ यह चला आ रहा है, इसका मूल कारण केवल पर की अपनायत ही है, बात सिर्फ जरासी है और बतंगड़ इतना बन गया है। बात कितनी सी है? यह उपयोग इसकी ओर न झुककर उस ओर झुक गया। बहुत थोड़ा सा अन्तर पड़ा है। उपयोग जीव प्रदेश में ही है। कही यह उपयोग अपने आधार को छोड़कर बाहर नहीं चला गया। अपने ही घर में रहते हुए यह उपयोग इसके उपयोग की यूज की प्रयोग की पद्धति बहिर्मुखता की बनायी गई है। यह अपने आपकी ओर न झुककर पर की ओर झुक गया।

बवण्डर की जड़ जरासी बात—जैसे हम यहाँ बैठे हैं, इस ओर मुँह करे हैं और पीछे की ओर मुँह कर लें तो हमें कुछ ज्यादा अन्तर तो न करना पड़ेगा। थोड़ा फिर गया। उपयोग में इतना भी नहीं करना पड़ता। अपनी ओर झुके और पर की ओर झुके— इन दो विलक्षण विरुद्ध बातों के लिये इतना भी श्रम अथवा अन्तर नहीं करना पड़ता। जैसे इस शरीर वाले हम इस समय यहाँ देख रहे हैं अब हम पीछे देखना चाहें तो उसमें हम जितनी प्रकट बदल करते हैं उतनी भी तो बदल नहीं है, इस उपयोग में इतनी सी तो एक अन्य बात बनी और कर्मों से बँध गया, शरीर से घिर गया, नाना परतंत्रताएँ हो गयी, इतना बड़ा बन्धन बन गया, बतंगड़ बन गया अब जन्म ले रहे हैं, मरण कर रहे हैं। कभी किसी को अपना माना, फिर किसी को अपना माना, यों मानकर ही हैरानी हो जाती है। हर भव में पाये हुए समागम छोड़ने पड़ते हैं, नये समागमों में फिर मोह करना पड़ता है। इतना विकट बतंगड़, इतना विकट जाल इस जीव पर लगा है। उसमें कारण केवल इतना ही है कि यह पर की ओर झुक गया है।

आत्मसावधानी का अनुरोध—भैया ! अब तो इस भ्रम का भार मिटा लो, यथार्थ बात पहिचान लो, अपने आप पर दया कर लो, अपने आपकी रक्षा कर लो। अपने आपमें वर्तमान इस उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप में अवगाहन करके तू सिद्धवनिता का मुख देख, अर्थात् मुक्ति में कैसा आनन्द है? उस आनन्द का अनुभव कर देख लो सभी पदार्थ अपनी सत्ता लिए हुए है। अपने-अपने में ही पूर्व पर्याय को विलीन करते हैं और नई पर्याय को प्रकट करते हैं। किसी का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है। तू भ्रम से ही परपदार्थों में अहंकार और ममकार करता है। सो जब यह अपना स्वरूप तू जान लेगा सबसे न्यारे अपने आपमें सन्तोष करेगा तो पर का उपद्रव आपके न आयेगा, यही एक अन्यत्व भावना का फल है। हम यथार्थ विश्वास दृढ़ बनाये रहें कि हम पर से न्यारे हैं और अपने स्वरूप में तन्मय हैं, इसमें रंच भी सन्देह न करें। इस दृढ़ भावना के प्रताप से हम प्रत्येक परिस्थिति में अन्तरङ्ग में सन्तुष्ट रह सकेंगे।

श्लोक-156

निसर्गगलितं निन्द्यमने का शुचिसम्भृतम्।

शुक्रादिबीचसम्भृतं घृणास्पदमिदं वपुः॥156॥

शरीर की असारता—अशुचि भावना का अब वर्णन किया जा रहा है। अशुचि कहते हैं अपवित्र को अर्थात् जो पवित्र न हो उसे अशुचि कहते हैं। यह शरीर घृणा का स्थान है। इस शरीर में कहाँ कौनसी सारभूत वस्तु है। रोम, चाम, खून, मज्जा मांस, हड्डी, वीर्य मल से लेकर बाह्य तक सभी पदार्थ अशुचि पड़े हुए हैं और फिर यह शरीर निसर्ग गलित है अर्थात् स्वभाव से यह शरीर गलने की ओर ही रहता है, इस देह से मल झरता रहता है, रोम रोम से पसीने के रूप में अथवा जो मल के नवद्वार है उन द्वारों से मल झरता रहता है, और फिर यह शरीर स्वयं गलने की ओर से रहता है, यह निन्द्य है। मोहवश ही यह मोही प्राणी ऐसे अपवित्र शरीर को उच्च और रमणीक मानता है, किन्तु वहाँ रमने के योग्य कुछ भी तत्त्व नहीं है।

शरीर के स्नेह में बन्धन का महा ऐब—भैया ! यह शरीर अपवित्र और अरम्य तो है ही, एक महा ऐब और है कि इसके स्नेह में है व्यर्थ का बन्धन, व्यर्थ का क्षोभ, नाना उपद्रवों की यातनाएँ। सभी प्रकार से इस अशुचि शरीर का सम्बन्ध इस जीव का अहित ही करता है। अशुचि पदार्थों से तो यह शरीर भरा है ही, साथ ही यह भी समझिये कि यह शरीर उत्पन्न कहाँ से होता है? खून रज इन्हीं के सम्बन्ध से तो इस शरीर का निर्माण हुआ है। तो जिस शरीर का स्थान भी अपवित्र है, जिस शरीर की वर्तमान स्थिति भी अपवित्र है और भावी स्थिति में भी मरने के बाद यह शरीर पड़ा रहे तो वह कितना अपवित्र रहता है? तो अपवित्रता प्रारम्भ से अन्त तक जिसमें बनी रहती है ऐसे शरीर के प्रति हे मुमुक्षु आत्मन् ! रति मत करो। यह शरीर रमने के योग्य पदार्थ नहीं है।

श्लोक-157

असृग्मांसवसाकीर्ण शीर्ण कीकसपञ्जरम्।

शिरानद्धं च दुर्गन्धं क शरीरं प्रशस्यते॥157॥

शरीर की अशुचिता व उसका मूल कारण—यह शरीर रुधिर मांस चर्बी से भरा हुआ सड़ रहा है, शीर्ण हो रहा है। कुछ अन्य सारभूत चीज हो फिर उसमें कुछ थोड़ा असार पड़ा हुआ हो ऐसा भी तो नहीं है। जो कुछ भी है शरीर में वह सबका सब अशुचि पदार्थों से भरपूर है, स्वयं ही अशुचि है। इस प्रसंग में एक बात यह भी समझियेगा कि ऐसे अशुचि शरीर को पाने का कारण क्या हुआ? शरीर तो अशुचि लग रहा है, ठीक है, पर मूल में अशुचि तत्त्व क्या है? तो मूल में अशुचि पदार्थ शरीर नहीं, किन्तु मोह है। लोक में सबसे गंदी चीज क्या है? शायद नालियां होंगी अथवा ये संडास, मलमूत्र वगैरह होंगे? अरे सबसे गंदी चीज है मोह।

अस्पृश्यता की प्रसिद्धि में लोकप्रथा—लोक में ऐसी प्रथा है कि किसी बालक का पैर नाली में गिर जाय, विष्टा में पड़ जाय तो और बालक उसे छूते नहीं हैं, वह अस्पृश्य हो गया। वह नहाये, सब कपड़े बदले तब जाकर वह छूने योग्य होता है। वह लड़का किसी दूसरे बालकों को छू ले तो उस दूसरे बालक को भी लोग नहीं छूते। वह भी अस्पृश्य हो गया और वह दूसरा तीसरे को छू ले तो वह भी अस्पृश्य हो गया, इसी प्रकार तीसरा चौथे को चौथा पांचवे को छू ले तो यों सभी अस्पृश्य माने जाते हैं। पर ये बालक जो अस्पृश्य हुए उसका आधार क्या, मूल बात क्या होती है? जब इसका विवरण पेश किया जाय तो यही तो कहेंगे कि सबसे मूल में छूत वह लड़का है जिसके पैर विष्टा में पड़ा।

देह की अस्पृश्यता के मूल कारण पर विचार—अब जरा यहाँ भी अछूत की जांच कीजिए, कौन है अछूत? इन गंदी नालियों की कोई छींट पड़ जाय तो लोग उसे अशुचि मानते, पैर भिड़ जाय तो पूरा नहाना होता है। तो क्या वे नालियां गंदी हुई? अरे उन नालियों में, उन संडासों में जो अपवित्र चीजें पडी हैं वे चीजें कहाँ से निकली हैं? इस शरीर से ही तो निकली हैं और यह शरीर कैसे बना है? अरे जीव ने इन शरीरों पर कब्जा किया जन्म समय तो उससे फिर यह शरीर बढ़ता गया तो कब्जा किया जन्म समय तो उससे फिर यह शरीर बढ़ता गया। तो नालियों के अशुचि होने का मूल मिला शरीर और शरीर का बन्धन का मूल मिला मोही जीव और इस मोही जीव में कुछ जीवत्व तो अशुचि की चीज नहीं है, किन्तु उसमें जो मोह बसा है वह अशुचि है। तो जो कुछ भी ये शरीरादिक, मलमूत्र आदिक अशुचि पदार्थ लोक में माने हैं इन सबका मूल है मोह। जीव में मोह न होता तो यह जीव शरीरों को ग्रहण नहीं करता। यह जीव शरीर को ग्रहण नहीं करता तो ये वर्गणायें ये आहार वर्गणायें अपने शुद्ध रूप में थी ही, उनमें विकार क्यों आता? शरीर की वर्गणाओं में विकार आया तो आज यह रूप बना। इसमें मल आदिक झरने लगे तो उन मल आदिक से भी अस्पृश्य कौन है? जिसका सम्बन्ध पाकर ये गंदी नालियां अशुद्ध कहलाने लगी वह है अशुद्ध मोह। तो इन सब गंदगियों का मूल हेतु है मोह। तो सबसे अधिक गंदी चीज मोह रही। ये विष्टा मलमूत्र आदिक नहीं रहे।

प्रयोजनवश शुचि अशुचि का वितर्क—अब और खुले दिल से इसका निर्णय करें ये मांस विष्टा आदिक पदार्थ जैसे हैं, हैं, ठीक हैं, किन्तु इस जीव को अपनी विषयशुचि के कारण देह सुहावना लगता है और कभी प्रकट अशुचि दिखने से इन्हें बाधा जगती है इसलिए इन्हें अपवित्र माना है, इन जीवों को सुहाती है सुगंध और मिल रही है दुर्गन्ध, तो विषयशुचि के विरुद्ध बात होने से ये मोही जीव इन मल आदिक को अशुचि मान रहे हैं, पर उस वस्तु की ओर से ही देखो तो वह तो जो है सो है। उसमें क्या शुचिपना क्या अशुचिपना? वह चीज है, पौद्गलिक है। वहाँ पुद्गल का कुछ बिगाड़ नहीं है। किन्तु जरा अपने में तो देखिये यह मोह महा अशुचि है जिसने ज्ञानानन्द के धाम इस परमात्मस्वरूप को बिल्कुल ढक दिया है, इस ओर इसकी सुध भी नहीं हो पाती और विकल्पजालों में यह बढ़ता चला जा रहा है, ये सब मोह के कारण ही तो है, तो मोह है गंदा मूल में, लोकव्यवहार में गंदे माने जाने वाले पदार्थ कुछ गंदे नहीं हैं।

अशुचिभावना का प्रयोजन—भैया ! मोह ही तीव्र गंदा है। बात यों है, फिर भी अशुचि भावना में शरीर की अपवित्रता का वर्णन चल रहा है, वह भी एक वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए है। मोही जीवों की प्रति इस शरीर से अत्यन्त अधिक है। तब पाये हुए शरीर से और दूसरों जीवों के शरीर से इसे प्रीति जगी है, यह प्रीति न जगे ऐसा उपाय करने में इस शरीर की अशुचिता का चिन्तन करना चाहिए। यह शरीर हाड़ों का पंजर है। किसी अत्यन्त दुर्बल पुरुष में जहाँ हड्डी पसलियाँ खूब स्पष्ट सी नजर आती हैं उसे देखकर तो कुछ-कुछ समझ में आ जाता है कि हाड़ों का पंजर है। केवल हड्डी की फोटो ले ली जाय तो उसमें पञ्जर दिखता है। और कागजों पर चित्रकारी कराकर केवल हड्डियों का ढांचा बनाकर खड़ा कर दिया जाय तो वहाँ पर भी जँचता है कि यह हाड़ों का अस्थिपञ्जर है।

अस्थिपञ्जर के प्रति कामी की कामना—मोही जीव जिस शरीर में रति करते हैं वह शरीर क्या है? हाड़ों का पिञ्जर है। उन हाड़ों के ऊपर मांस और चाम चिपके हुए हैं जिससे इन हाड़ों की सही शक्ति नजर में नहीं आती, लेकिन जो मांस चाम वगैरह चिपके हैं वे सब भी अशुचि हैं। शुचिता का रंच भी नाम नहीं है। काम के प्रसंग में जब इस जीव के मैथुन संज्ञा का उदय तीव्रता को धारण करता है तो इस जीव को लोक में सबसे अधिक सारभूत यह शरीर ही जंचा करता है। यह उसके तीव्र पाप का उदय है। अश्रद्धा, मिथ्याश्रद्धान, अविवेक, बेहोशी इनसे बढकर भी कुछ और महापाप होता है क्या?

देह की अशुचिता ढकने के लिए साज श्रृंगार—यह शरीर महा अपवित्र है, नसाजाल से बँधा हुआ है। नसाजाल भी किसी किसी के शरीर में बहुत स्पष्ट नजर आने लगते हैं। चाम के भीतर रहकर भी नीली-नीली रस्सी जैसा बन्धन इस शरीर पर पड़ा हुआ दिखता है और यह शरीर अति दुर्गन्धित है तभी तो इसे इत्र फुलेल चाहिए, क्योंकि शरीर की दुर्गन्धता तो ढकना है और इस शरीर को सजाने के लिए बड़े सुहावने कपड़े

चाहियें, क्योंकि इस शरीर की पोल को ढांकना है। महा गंदा शरीर है, अशुचि पदार्थों को बहाने वाले ऐसे शरीर में मोही जीवों की रुचि जगती है।

अशुचि शरीर के प्रति हितमय उपयोग—भैया ! है यह गंदा शरीर, किन्तु इस गंदगी का उपयोग वैराग्य के लिए करना चाहिए था, पर जिसके ज्ञाननेत्र फूट गए हैं ऐसे मोही पुरुष इस अपवित्र शरीर का उपयोग सही दिशा में नहीं कर पाते हैं। वे तो विषयसाधनों में इस शरीर को लगा देते हैं। एक कवि की कल्पना में मान लो इन कर्मों ने तो हम आप पर दया करके ऐसा अपवित्र शरीर दिया है। कहीं यह देवों जैसा शरीर पा लेता तो इसे वैराग्य का कहाँ अवसर आता? यह गंदा शरीर मिला है तो इससे वैराग्य की ओर प्रेरणा मिलती है। तो मिला तो शरीर एक वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, किन्तु यह शरीर ऐसे अपवित्र शरीर से भी राग का काम करता है। ऐसा यह दुर्गन्धित शरीर क्या कहीं प्रशंसा के योग्य है? यह तो सर्वत्र निन्द्य ही दिखता है, ऐसे शरीर में रति मत करा। और अपने आपमें बसे हुए पवित्र चैतन्यभाव का अवलम्बन ले।

श्लोक-158

प्रस्रवन्नवभिद्वारैः पूतिगन्धात्रिरन्तरम्।

क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम्॥158॥

देह की मलस्रावणता—यह मनुष्य का कलेवर ढांचा शरीर नवद्वारों से जो कि निरन्तर झड़ रहा है, जहाँ से अशुचि पदार्थ ऐसे नवद्वारों से निरन्तर झरते रहते हैं, जरा हिम्मत है ना, शरीर में बल है इसलिए मल डटा हुआ है। नाक में भरी तो सबके है नाक, पर वह नाक डटी हुई है क्योंकि ताकत है शरीर में। वृद्धावस्था में लार बहने लगे, मुख से नीचे टपक पड़े क्योंकि अब उस अवस्था में शरीर में बल नहीं रहा। इसलिए अब यह मल डट नहीं सकता। सो बल के कारण मल डटे हुए हैं सब जगह, पर मल भरे हुए ही हैं अंदर। यह शरीर तो मलों का घर है। मलों को ही उत्पन्न करता है, मलों से ही उत्पन्न हुआ है।

देह की क्षणक्षयिता व पराधीनता—यह शरीर क्षणक्षयी है, क्षणभर में विध्वंस होने वाला है, पराधीन है। यह शरीर अपने आप बना तो अपने ही परिणामन में किन्तु जीव का संबंध होना, कर्मों का उदय होना आदिक अनेक बातों से यह पराधीन है, ऐसा यह नरकलेवर है, जिसको यह मोही जीव अपनाया करता है। इस शरीर में पराधीनता भी कितनी है? अन्न पानी न मिले तो यह शरीर मुरझा जाय और जीव का सम्बंध हो, कर्मोदय वाले जीव का वैसा सम्बंध हो तो इस प्रकार के आकार को ये वर्गणायें धारण कर लेती हैं। ऐसे पराधीन अपवित्र क्षणभर में नष्ट होने वाले शरीर से प्रीति करना व्यर्थ है। यह शरीर रहेगा नहीं, अर्थात् जीव जाने के

बाद यह शरीर सड़ जायेगा, जल जायेगा, गल जायेगा, किसी भी अवस्था को प्राप्त हो लेगा, रहेगा नहीं यह शरीर। साथ ही यह शरीर दुःख का कारण है बन्धन का हेतु है, विपदा और उपसर्ग जिसके कारण आया करते हैं, ऐसे शरीर में प्रीति करने में क्या हित है?

श्लोक-159

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते।

जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः॥159॥

शरीर की कृमिजालाकीर्णता व रुग्णता—यह शरीर सैकड़ों कृमिजालों से भरा हुआ है। डाक्टर लोग भी बताते हैं इसके खून में कितनी कृमि हैं अथवा ये सब कृमिजाल ही तो हैं, कीड़ों का समूह ही वह सब खून है, और यह शरीर रोगों के समूह से पीडित है। इसमें कोई एक रोग है क्या? इसमें करोड़ों रोग होंगे। सैकड़ों रोग तो अपने आप पर बीत गए हैं और हजारों रोग ऐसे चल रहे हैं कि जिनका हमें पता नहीं पड़ता और शरीर में चल रहे हैं रोग। जब कभी कोई विरुद्ध प्रसंग उपस्थित हो जाय तो शरीर में कितनी बाधाएँ आ जाती हैं, जुखाम हो गया, खांसी हो गयी, सिरदर्द है, पेटदर्द है, बुखार हो गया, फुंसियाँ हो गयी, खाज हुई, दाद हुआ, यों सैकड़ों हजारों रोगों से पीडित यह शरीर है।

शरीर की रुग्णता का समर्थन—भैया ! एक भी शरीर ऐसा कहीं से लावो अथवा कोई भी मनुष्य ऐसा पेश करो जिसमें किसी भी प्रकार का रोग न हो। भले ही चूँकि और और रोगी पुरुष बहुत हैं, उनके मुकाबिले वे रोग वहाँ दिखते नहीं हैं सो निरोग कह दें, पर सही मायने में किसी भी पुरुष को निरोग नहीं कहा जा सकता। किसी न किसी प्रकार का रोग प्रत्येक मनुष्य में मिलेगा। भले ही कोई पहलवान बहुत तगड़ा है, उसकी जठराग्नि भी तेज है और किसी प्रकार की उसे पीड़ा नहीं होती, ऐसा स्वस्थ मजबूत शरीर भी हो तो भी वहाँ खूब निगरानी करके कोई देखे तो अनेक रोग उस शरीर में भी मिलेंगे। यह शरीर रोगसमूह से पीडित है।

शरीर की जर्जरितता—यह शरीर बूढ़ापे से जर्जरित हो जाता है। बच्चों को ऐसा लगता होगा किसी अधबूढ़े को निरखकर कि क्या है यह? दांतों में जब सींक डालता है वह अधबूढ़ा पुरुष भोजन का जो कुछ भर गया है उसे दूर करने के लिए तो बच्चे लोग कुछ मन में हँसते होंगे। क्या किया जा रहा है यह, क्योंकि उनके तो अभी सघन दाँत हैं, उन्हें सींक की जरूरत नहीं पड़ रही है अथवा जब बूढ़े लोग चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं तो ये अच्छे लोग कुछ हँसी मजाक भी करते होंगे, लेकिन कोई भी शरीर बूढ़ापे से दूर नहीं रह सकता यदि

वह बराबर जीवित रहता है तो। जर से जर्जरित काया है यह। ऐसे असार शरीर में बड़े पुरुषों की कैसे रुचि हो सकती है?

शरीरसौन्दर्य की अज्ञानकल्पितता—जिन्हें भेदविज्ञान नहीं जगा, जो शरीर को ही आत्मा समझते हैं और इसी कारण जो चारों संज्ञाओं के ज्वर से पीड़ित है ऐसे मोहीपुरुष इस शरीर को बड़ा सुभग स्वरूप निरखा करते हैं। अरे एक आकार ही तो है, किसी की नाक जरा ऊपर उठ गयी, किसी की जरा लम्बी खिंच गई, किसी के नाक के छिद्र कुछ छोटे हैं किसी के कुछ बड़े हैं, क्या है वहाँ, एक आकार ही तो बन रहा है। वहाँ सुन्दरता का नाम क्या? जो अशुचि का पिण्ड है उस पिण्ड में फिर एक स्वरूप से परखना, सुन्दरता का निर्णय करना, यह सब मोह में ही हुआ करता है। ज्ञानी पुरुष ऐसे अविवेक में नहीं फँसते।

शुचिविज्ञान से अशुचिभावना की सफलता—इस अशुचि भावना में शरीर की अशुचिता बतला रहे हैं, किन्तु इस अशुचि भावना के साथ-साथ यह भी ज्ञात होना चाहिए कि क्या संसार में सभी पदार्थ अशुचि अशुचि ही हैं, कुछ पवित्र नहीं है क्या? यदि नहीं है कुछ पवित्र, तो अशुचि के गान से लाभ क्या? अशुचि से हटकर शुचि में पहुँचे, इसके लिए किसी को अशुचि बताया जाय तब वह ठीक है तो समझिये शुचि है और पवित्र है वह पदार्थ अपने आपमें अनादि अनन्त सहजसिद्ध यह चैतन्यस्वरूप। इस शुचि का आश्रय लें और इन सर्वअशुचियों से निवृत्त हों।

श्लोक-160

यद्यद्स्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्धया विर्चायते।

तत्तत्सर्वघृणां दत्तेदुर्गन्धमिध्यमन्दिरे॥160॥

शरीर की घृणास्पदता—इस शरीर में जो-जो पदार्थ हैं साधु बुद्धि से विचार करने पर वे सब घृणा के स्थान तथा दुर्गन्धित मल के घर ही होते हैं, अर्थात् इस शरीर में कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है। शरीर की सुन्दरता को निरखने में साधक है रागभाव, कामभाव और शरीर जैसा है उस ही प्रकार नजर आये इसका कारण है वैराग्यभाव। एक कथानक प्रसिद्ध है पुराण में कि कोई राजपुत्र एक सेठ की वधु पर आसक्त हो गया, उसने दूती भेजी तो वधू कहती है कि अच्छा आज से 15 दिन बाद राजपुत्र आ जाय। वधू ने क्या किया कि उस ही दिन से जुलाब लेना शुरू किया और एक मटके में शौच करती जाय। 10-12 दिन में उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। राजपुत्र आया तो उस वधू को देखकर आश्चर्यचकित हो गया जो 15 दिन पहिले सुन्दर देखा था, यहाँ तो कुछ भी नजर नहीं आ रहा। हड्डी निकली, बिल्कुल ढांचा ही बदल गया,

देखने में डर लगे, ऐसी शकल उस वधू की बन गई थी। तो वधू कहती है—राजपुत्र तुम क्यों सोचविचार में पड़े हो? तुम जिस सुन्दरता पर आसक्त थे चलो वह सुन्दरता हम तुम्हें दिखायें, उस सुन्दरता से तुम प्रेम करो। जहाँ शौच से भरा हुआ घड़ा रखा था वहाँ ले जाती है और कहती है देखो इसमें हमारी सुन्दरता भरी है। वहाँ देखा तो बड़ी दुर्गन्ध थी और ऐसे वातावरण से ऊबकर वह राजपुत्र तुरन्त वापस चला गया।

सुन्दरता की मात्र कल्पना—भैया ! जो सुन्दरता नजर आती है वह भीतर मल भरा है और भी अशुचि पदार्थ हैं, उनकी ही तो खूबी है। सुन्दरता और किसका नाम है? हृष्ट-पुष्ट शरीर भी, कान्तिमान् शरीर भी वैराग्य से वासित हृदय वाले को अरम्य जंचता है और दुर्बल जैसी चाहे शकल का भी शरीर हो, कामी पुरुषों को सुन्दर और सर्वस्व जँचता है। कहाँ है सुन्दरता और असुन्दरता? जैसे जो पुरुष बड़े मजे में रह रहा है उसे सब जगह लगेगा कि मजे में है, मजे का ही वातावरण है ऐसा नजर आता है। जब इष्टवियोग आदिक किसी कारण से दुःख हो जाय, दुःखी रहा करे तो उसे सब जगह लोगों की स्थिति मुद्रा सब कुछ दुःखमय विदित होता है, लो सभी दुःखी हैं, ऐसे ही जब चित्त में राग और उद्भ्रम उत्पन्न होता है तो अन्य शरीर ये सब शरीर उसे सुन्दर और हितरूप मालूम पड़ते हैं? और जब यह राग नहीं रहता, विवेक जगे, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो तो ये सब शरीर मायामय यों ही निमित्तनैमित्तिक भाव में मिल गए, ऐसे ही अटपट नजर में आते हैं। जो-जो भी पदार्थ इस शरीर में हैं वे सब घृणा को ही देते हैं। शरीर क्या है? दुर्गन्धित मल का मंदिर है। मलमंदिर जहाँ मल ही मल भरा है, मंदिर का अर्थ है स्थान। ऐसा यह शरीर रम्य नहीं है। ऐसे शरीर को पाकर इससे विरक्ति की वृद्धि में इसे साधनभूत बनाएं तो यह एक विवेक है अन्यथा आसक्तिवश शरीर में रम गए तो इसमें संसार ही लम्बा चलेगा, और जन्ममरण की परम्परा ही बनेगी।

श्लोक-161

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः।

दूषयत्यपि तान्वेयं शोध्यमानमपि क्षणे॥161॥

शरीर के शोधन की अशक्यता—यह शरीर इतना अपवित्र है कि इस शरीर को समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाय तो यह शरीर उसी क्षण समुद्र के जल को भी अशुद्ध कर देता है। जल पदार्थों को शुद्ध करने का कारण है। तो जो शुद्ध करने का साधन है। वह भी इस शरीर के सम्बन्ध से अशुद्ध बन जाता है। किसी बड़े बर्तन में कोपरा में बड़े भगोने में आप बैठकर नहा लीजिए, उस जल से आप अपने शरीर को धो डालें तो उसके बाद में कोई दूसरा उस जल से स्नान कर सकता है क्या? बल्कि नहाते समय में किसी दूसरे पर

छींट भी पड़ जाये तो वह उस छींट पर नाराज होने लगता है, आप अच्छी तरह क्यों नहीं नहाते, हम पर पानी की छींट आ रही हैं। उस समूचे नहाये हुए पानी की बात तो दूर रही, किन्तु छींट भी एक घृणा को उत्पन्न करती है। तो जिस जल से इस शरीर का शोधन किया जाय वह जल ही इस शरीर के सम्बन्ध से अशुद्ध हो जाता है, फिर जो अन्य वस्तु को अपवित्र कर दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

शरीर के स्पर्श से पदार्थों की अपवित्रता—लोग शुद्ध होने के लिए लोगों से बचते हैं, किसी का कपड़ा न भिड़ जाय, वहाँ बात है क्या कि दूसरे का कपड़ा भी क्या, खुद के शरीर पर पहिना हुआ कपड़ा इस शरीर के सम्बन्ध से अशुद्ध हो जाता है और फिर बिना नहाये हुए शरीर से सम्बद्ध कपड़े से और विशेष जुगुप्सा उत्पन्न कर ली जाती है। आज जो कपड़ा पहिन लिया यह कल रसोई के काम न आयेगा, ऐसे ही बिना धुले हुए। उसका अर्थ ही यह है कि इस शरीर के सम्बन्ध से ये वस्तु भी अशुद्ध हो जाया करते हैं। सिर पर चंदन लगाया तो यदि चंदन ज्यादा लग गया तो उसे छुटाकर कोई दूसरा भी मस्तक पर लगा सकता है क्या? घृणा उत्पन्न होगी। अच्छा चंदन की भी बात जाने दो, तेल एक बार किसी के शरीर में लग जाय तो उस तेल को पोंछ कर कोई अपने शरीर में भी लगाता है क्या? उसकी भी बात जाने दो। फूलों की माला किसी को पहिना दी जाय तो फूल माला पहिनने के बाद उस फूल माला को कोई दूसरा अपने कंठ में नहीं रखना चाहता। उसकी भी बात जाने दो। जो चमकीले रेशम के या चटक मटक के हार मिलते हैं बाजार में उसे पहिना दिया जाय किसी दूसरे को और फिर किसी दूसरे महापुरुष के सम्मान के समय पहिले का पहिनाया हुआ हार ही पहिना दिया जाय और उसे मालूम पड़े तो वह उसमें अपना सम्मान नहीं किन्तु अपमान समझता है। तो शरीर का सम्बन्ध पाकर ये सभी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं, ऐसा है निन्द्य अशुचि यह शरीर।

शरीर की मोह में ही प्रीतिपात्रता—इस शरीर से मोहीजन ही प्रीति रखते हैं। जिन्हें अपने आत्मा के शुचि स्वभाव का परिचय नहीं है वे बेचारे अपने विकारों का विश्राम कहाँ करायें, स्वयं विश्राम पाने की तो योग्यता है नहीं तब यह उपयोग भ्रम-भ्रमकर दौड़-दौड़कर इन्द्रिय के विषयों में ही विश्राम करना चाहता है। यह सब अज्ञान का प्रताप है। विषयों के साधन अज्ञान में ही सुहावने लगा करते हैं। समस्त विपदायों से बचने का भाव हो तो अपने ही अन्तरङ्ग में विराजमान आन्यन्तिक शुचि पवित्र निर्मल विकलमष निर्लेप अखण्ड स्वभाव से लगाव लगाइए, प्रीति कीजिए उसका ही उपयोग कीजिए। इस शुचि आत्मस्वभाव को निरखकर इस अशुचि अशुचि से विरक्त हूजिए। जैसे जो लोग बेकार नहीं हैं, काम-धंधे में लगे हुए हैं, कमाने के अथवा सेवाओं के काम में लगे हुए हैं ऐसे पुरुषों का चित्त अधिक बिगड़ता नहीं है, अधीर नहीं होता, किन्तु जो लोग बेकार हैं, जिनके पास कुछ काम नहीं है उनके चित्त में सैकड़ों प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं तब ये विषयों की प्रवृत्ति में अधिक रहना चाहते हैं, ऐसे ही जिनको अपने परम अर्थ का लक्ष्य नहीं बना, संसारसंकटों से मुक्त होने का जिनका उद्देश्य नहीं बना है उनका इन विषयसाधनों में ही जो अहित है,

छलपूर्ण हैं, निकट भविष्य में क्लेश उत्पन्न करने वाले हैं उनकी ओर चित्त जाता है। अपना काम लगा रहे, आत्महित की रुचि जग जाए, परिचय हो जाए तो उसे तो यह बड़ा काम पड़ा हुआ है कि हमें अपने सहजस्वरूप को जानना है और यों ही जानते रहना है। इस काम का अब कब अन्त आये, सदा के लिए यह काम पड़ा हुआ है, तो ऐसे कमंठ पुरुषों के, उद्योगी जीवों के इन अशुचि शरीरों में प्रीति नहीं जगती है।

श्लोक-162

कलेवरमिदं न स्यादधि चर्मावगुण्ठितम्।

मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्वातुं कस्तदा प्रभुः॥162॥

चर्मावरण के अभाव में शरीर की मांसभक्षियों से अरक्षा—यदि यह शरीर बाहर के चमड़े से ढका न होता तो मक्खी, कीड़े, कौवे ये सब इस पर टूट पड़ते होते और उनसे रक्षा करने में फिर कोई भी समर्थ न होता। जैसे देखा होगा कि पशु का, बूढ़े बैल का, गधे का, घोड़े का, शरीर कि जिसका चमड़ा जगह-जगह छिला होता है, जगह-जगह मांस दिखता है, मांस जमीन पर टपकने के सम्मुख है, ऐसे पशु पर चारों ओरसे पक्षी टूट पड़ते हैं। वहाँ वह पशु क्या करे, कौन रक्षा करे, वह दुःखी होता है। कल्पना करो कि हम आपके शरीर के ऊपर यह चमड़े का चादर न लगा होता तो इसका प्रकट रूप कैसा होता? कभी किसी हाथ में किसी जगह 2-4 फुंसियां हो तो जायें, इसी से ही बड़ी घृणा सी लगती है और दूसरों की फुंसियों को दूसरा निरख नहीं सकता, खुद के शरीर में हो गया रोग तो इस शरीर को कहाँ डालें, स्वयं सह लेंगे, मगर दूसरों के शरीर में ऐसा खून टपकता हो, फुंसियाँ अधिक हों ऐसा ही ग्लानि का रूप सामने हो तो उसे पसंद नहीं करता। यदि इस शरीर पर यह चमड़ा न ढका होता तो मक्खी, कीड़ा, कौवा आदिक से इस शरीर को बचाने के लिए इसकी रक्षा करने के लिए कौन समर्थ होता?

मोह के बिना शरीर की अरक्ष्यता—यह तो एक सीधी सी बात कही गयी है। अब अध्यात्मत्व देखिये—इस घृणास्पद अपवित्र शरीर को निरखकर ज्ञानी विवेकी सत्पुरुष जब इस शरीर को दूर से ही छोड़ देते हैं, अपने उपयोग में इसको स्थान नहीं देते हैं तब फिर इस शरीर की कौन रक्षा करे अर्थात् शरीर से वैराग्य जग जाय तो फिर यह शरीर टिक नहीं सकता। कभी भी निकट काल में इस शरीर के फन्दे से यह जीव अलग हो जायेगा।

मोहियों की मोहवृत्ति में चर्म का उपकार—यह सब जो लौकिक व्यवहार राग व्यवहार, यह संसार चल रहा है इसमें इस शरीर, पर लगे हुए चमड़े का भी बड़ा सहयोग है। इसके कारण राग बढ़ता है, क्योंकि चमड़े के भीतर जो कुछ शुचि अशुचि पदार्थ हैं वे तो इन इन्द्रियविषयाभिलाषी पुरुषों की नजर में रहते नहीं है, किन्तु

ऊपर से ही इतना साफ नजर आता है और ऊपर से तो कुछ है भी साफ सा। यदि कल्पना में ही यह आ जाय, कोई अपनी नाक को खुजा रहा हो, उसे ही देखकर चित्त में यह आ जाय कि यहाँ भरा तो है यह मल, तो कल्पना में यह बात समझ में आते ही राग में अन्तर हो जाता है। भूदरदास जी ने कहा है ना, 'दिपै चाम चादर मढी, हाड़ पीजड़ा देह। भीतर या सम जगत् में और नहीं घिन गेह।।' खूब निरख लो—इस शरीर के समान घिनावना घर और कहीं न मिलेगा। ये चौकी, घड़ी, लालटेन कांच जो-जो कुछ दिख रहे हैं ये सब शुचि है, इनमें अशुचिता का कारण नहीं है लेकिन यह शरीर इन अजीवों से भी बदतर हैं, इतना बुरा हाल है। प्रथम तो ये सब स्थावर शरीर है। स्थावर शरीरों में हड्डी नहीं होती। जैसे पृथ्वी, जल, आग, वायु और वनस्पति ये कितने सुहावने लगते हैं, किन्तु यह त्रसकाय, कीड़ों मकौड़ों का शरीर हम आपका शरीर इसमें शुचिपने का नाम ही नहीं है। मूल से अन्त तक सारा शरीर अशुचि पड़ा हुआ है, इस शरीर पर चमड़ा न होता तो यह खुद को ही बड़ा भार सा लगता और इसे कीड़ा पक्षी आदिक भी सब चोट ले जाते।

उभय या शरीर की अरक्षा—ज्ञानीपुरुष तो ऐसे ऊपर के चापड़े शरीर मुद्रा को निरखकर उसमें आसक्त नहीं होते हैं जैसे अशुचि पदार्थ ऊपर निकल आये मांसादिक तो पक्षियों से इसे बचाने के लिए कौन समर्थ है? अर्थात् सामर्थ्य न हो पायेगी किसी की भी कि किसी के शरीर को उस आक्रमण से बचा ले। चारों ओर से पशु और पक्षी मांस-भक्षी जीव इस शरीर पर टूट पड़ते हैं, इसकी रक्षा कोई नहीं कर सकता तो अब यहाँ अध्यात्मयोग की बात निरखिये जो अध्यात्मयोगी संत इस शरीर को अपवित्र जानकर इससे परम उपेक्षा करके अलग रहते हैं उपयोग में, अब उस शरीर की भी कौन रक्षा करे? वह शरीर भी शीघ्र विलय हो जायेगा और आगे के लिए भी कभी इसे शरीर न मिल सकेगा। केवल सिद्ध सर्वज्ञ और अद्भुत आनन्द को भोगने वाला ही रहेगा।

श्लोक-163

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम्।

सर्वदा पतनप्रायां देहिनां देहपञ्जरम्॥163॥

देह के तीन ऐब—इस जीव को देह को रूपी पिंजड़ा सदा ही रोग से व्याप्त रहा है, सदा ही अशुद्धताओं का घर बना रहता है और सदा ही पतन होने के स्वभाव वाला है। इस देह में ये तीन ऐब बताये गये हैं इस श्लोक में। प्रथम ऐब तो यह है कि शरीर रोगों से भरा है। प्रथम तो देह ही रोग है। आत्मा को बरबाद करने वाले फिर देह में अनेक रोग पड़े हुए हैं। वात, पित्त, कफ की समानता बनी रहे ऐसा होना तो कठिन सी

बात रहती है ना। कुछ न कुछ विषमता रहा ही करती है तब वहाँ रोग उत्पन्न होता है। दूसरा ऐब है इस देह में कि यह अशुचि पदार्थों का घर बना हुआ है। जैसे घर में सब लोग रहते हैं ना ऐसे ही इस देह में अशुद्ध अपवित्र पदार्थ रहा करते हैं, तीसरा ऐब है इस देह का कि यह मरण कर जाने वाला है। यदि ये मनुष्य न मरते होते तो आज क्या हाल होता? पैदावार तो बराबर चलती रहती और मरण किसी का न होता तो फिर क्या हाल होता। प्रथम तो अभी भी यदि सभी मनुष्य खड़े न रहें, लेट जायें तो यहीं जगह सबको लेटने को न रहेगी। अभी यहाँ इतने बैठे हैं, यदि सब लेट जायें तो यहीं इन सबका समाना कठिन हो जायेगा, फिर मरण न करे कोई, सभी जीवित रहे तो कहीं ठिकाना ही नहीं मिलता। तो देह में तीसरा ऐब यह है कि वह सदा पतन की ओर उन्मुख रहा करता है। यों यह देहरूपी पिंजड़ा 3 ऐबों से भरा हुआ है—रोग अशुद्धता और मरण।

शरीर की प्रीति में विडम्बना—भैया ! कभी भी यह सम्भावना और शंका न कीजिए कि किसी भी काल में तो यह शरीर उत्तम और पवित्र हो जाता होगा। कभी कदाचित् हो जाय देव शरीर पाकर, लेकिन वहाँ भी दुःख बहुत पड़ा हुआ है और फिर सदा रहने वाला नहीं है। उसका भी मरण होगा। ऐसे असार शरीर का स्वरूप समझकर इसे प्रीति हटाओ। प्रीति लगावो अपने आत्मा के सहजस्वरूप में जो सदैव अपने पास है, जिसकी दृष्टि न होने से संसार की विडम्बनाएँ बनती हैं और जिसकी दृष्टि होने पर ये विडम्बनाएँ समाप्ति हो जाती हैं, उस पवित्र निज अंतस्तत्त्व की उपासना करने में ही अपना कल्याण है।

श्लोक-164

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः।

विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम्॥164॥

नरदेह प्राप्ति की सफलता के अधिकारी—इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्होंने ही प्राप्त किया है जिन्होंने संसार से विरक्त होकर अपने कल्याणमार्ग में पुण्यकर्मों को क्षीण किया है। यह शरीर अशुचि है, असार है, पतनोन्मुख है, अहित है, भिन्न है। तिस पर भी जो पुरुष इस शरीर से आत्मा का काम सिद्ध करते हैं। अर्थात् आत्मा की सावधानी के लिए इस शरीर से तपश्चरण करते हैं और उन पवित्र तपश्चरणों से शरीर को क्षीण करते हैं उन्होंने ऐसा शरीर पाने का फल पाया है। शेष जो लोग इस शरीर को निरखकर विषयसाधनों में ही इसे लगाते हैं और इन्द्रियजन्य मौजों में अपना समय गुजारते हैं उन्होंने इस दुर्लभ मानवजन्म को पाकर इसे यों ही खो दिया समझिये।

शरीर की शीर्णशीलता—शरीर तो शरीर ही है अर्थात् शीर्ण होने लगता है, कभी मिटेगा, कभी बिखरेगा यह बात सबकी निश्चित है। जन्म लेने वाले कोई भी प्राणी ऐसे नहीं है कि जिनका शरीर अमर हो, सदा रहे। शरीर का तो धर्म ही यह है कि यह जब चाहे अचानक नष्ट हो जाय। तब ऐसे नष्ट होने वाले शरीर को यदि न नष्ट होने वाले आत्मस्वभाव में लगा दें तो इसे बढ़कर शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है? जो भोग और उपभोगों में ही रमते हैं उनका भी शरीर नष्ट होगा, बल्कि जल्दी ही नष्ट होगा। वे तो अकाल मरण का उपाय बनाते हैं।

शरीर का सत् उपयोग—शरीर को भोग उपभोग में लगाओ तो नष्ट होगा और तपश्चरण करा तो भी शरीर कभी नष्ट होगा। नष्ट तो होना ही है, पर शरीर का प्रेम बनाकर, विषयों की आसक्ति बनाकर इस शरीर को रखा तो उसमें क्या तत्त्व है? आखिर यह जीव विकारी ही बना रहा, जन्म मरण की परम्परायें ही चलाता रहा तो इससे इस जीव का लाभ क्या होगा? आत्मस्पर्श में यह उपयोग लगा ले तो यह आत्महित की बात होगी। यों इस बात के लिए इस श्लोक में प्रेरणा दी है कि इस असार शरीर से सारभूत आत्मा का काम निकाल लो।

श्लोक-165

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसृजते।

जन्मन्यस्मिस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम्॥165॥

मानसिक दुःखों का कारण शरीरसम्बन्ध—हे आत्मन् ! इस संसार में तूने इन शरीरों को ग्रहण करके दुःख पाये हैं अथवा सहे हैं, इससे तू निश्चय कर कि यह शरीर समर्थ अनर्थों का घर है। इस शरीर के संसर्ग से सुख का लेश भी नहीं हो सकता। खूब विचार लो, जितने प्रकार के क्लेश हैं वे सब इस शरीर के सम्बन्ध से हैं। मानसिक दुःख हों तो शरीर का सम्बन्ध है तब ही तो मानसिक क्लेश चलेंगे, बिना शरीर के मन टिका कैसे रह सकता है? मन तो शरीर का अन्तःद्रव्य है। अन्तः में जो एक विकल्प बनता है उसे विकल्प से जो क्लेश मिलते हैं उन क्लेशों का कारण यह शरीर ही तो हुआ। प्रकट बहुत सी चिन्ताएँ इस शरीर के कारण हैं। किसी को धन बढ़ाने की चिन्ता है तो इसी कारण है कि शरीर में उसका प्रत्यय है, लगाव है और इस शरीर के अस्तित्व से अपना अस्तित्व समझता है। दुनिया में इस शरीर की मूर्ति को ही आपा मानकर इसका यश कराना चाहते हैं, इन सब विडम्बनाओं के फल में धन अर्जित करने की चिन्ता लग जाती है और इसी से यश आदि की चिन्ता और इसी से अपमान सम्मान मानने का ढंग सारे क्षोभ इस शरीर के सम्बन्ध से ही तो हुए।

मर्मभेदी वचनों के दुःख कारण का शरीरसम्बन्ध—वाचनिक दुःख की बात देखो—किसी ने दुर्वचन बोल दिया तो इस आत्मा को वे असह्य हो गए। यह भी बात शरीर को अपनाया तभी बनी कल्पना उठ गई कि इसने मुझे दुर्वचन बोला। अरे जो मैं हूँ परमार्थ से, वास्तविक मायने में वह तो अमूर्त है, उसमें तो वचन प्रवेश ही नहीं करते, वह तो सबसे अपरिचित है, वहाँ कहाँ वचनों का प्रवेश है? वचनों का प्रवेश तो इस मोही जीव ने अपनी कल्पना में माना, उस मोही ने ही, जो कि इन शरीरधारियों से ममत्व रखता है। उसने मुझे यों कहा ऐसा मानने में उसने अपनी आत्मा को नहीं माना, किन्तु असमानजातीय द्रव्यपर्याय की इस शरीर की मुद्रा तभी बनी कल्पना उठ गई कि इसने मुझे दुर्वचन बोला। अरे जो मैं हूँ परमार्थ से वास्तविक मायने में वह तो अमूर्त है, उसमें जो वचन प्रवेश ही नहीं करते वह तो सबसे अपरिचित कहाँ-कहाँ वचनों का प्रवेश है? वचनों का प्रवेश तो इस मोही जीव ने अपनी कल्पना में माना उस मोही ने ही, जो कि इस शरीरधारियों से ममत्व रखता है। उसने मुझे यों कहा मानने में उसने अपनी आत्मा को नहीं माना किन्तु असमानजातीय द्रव्य पर्याय की इस शरीर की मुद्रा को निरखकर यह मोही मान रहा है कि मैं यह हूँ। ऐसा जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो वे वचन लगने लगे और यह मानसिक दुःखों का विस्तार बन गया। जब कभी परस्पर में तीव्र कलह हो गया, उस कलह में दोनों ही ओर से बड़े तीक्ष्ण वचन बोले जाते हैं मर्मभेदी। वे वचन तभी तो बोले जा रहे हैं जब कि एक दूसरे को इस शरीररूप में ही समझ रहे हैं और अपने को शरीररूप में समझ रहा है वह वाचक। जो जितने विवाद हैं, दुःख हैं वे सब ही इस शरीर के सम्बन्ध के कारण हो रहे हैं।

शारीरिक दुःखों का कारण शरीरसम्बन्ध—शारीरिक जितने क्लेश हैं, रोग हुआ, भूख प्यास लगी, कठोर स्थान सोने को मिला अथवा रहने का स्थान बढ़िया नहीं है, डांस मच्छर काट रहे हैं आदिक जो शरीर-सम्बन्धी क्लेश होते हैं उन क्लेशों का कारण भी तो यह शरीर ही रहा। शरीर न हो तो किसी भी प्रकार से भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदिक के क्लेश नहीं रह सकते हैं। यद्यपि शरीर आत्मा का धर्म नहीं, स्वभाव नहीं, परिणमन नहीं किन्तु अनादिकाल से मोहमलीमस इस आत्मा में जो कर्मों का और विभावों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है उस सम्बन्धों से अवरुद्ध होकर यह जीव विडम्बनाओं को धारण कर रहा है। शारीरिक समस्त क्लेशों का मूल भी यह शरीर है। यों सर्वप्रकार के क्लेश जो सहे गए हैं उन सबका कारण शरीर ही है, तभी यह सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थों का घर यह शरीर है।

मोह में ऐब की वृद्धि के लिये चतुराई का प्रयोग—देहधारियों के आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये सब ऐब लग रहे हैं। ये सब ऐब सभी में पाये जाते हैं, पर एक आश्चर्य की बात तो देखिये—जो जितना चतुर, बुद्धिमान, विद्यावान बन जाता है वह यदि मोह से मलीमस हो जाता है तो उसकी वह विद्या विकास, ये सब चतुराईयों अनर्थ को ही बढ़ाने वाली बन जाती हैं। सुलझाने के लिए यह विद्या समर्थ नहीं हो पाती है, प्रत्युत उलझाती ही है। सो अनुभव करके भी देख लो, जितना-जितना अधिक किसी विद्या का विकास होता है, किसी विषय

में एक चतुराई बढ़ गयी तो उस चतुराई का उपयोग यह जीव अलंकारिक ढंग से विषयों के भोग में किया जाता है।

आहार और भय संज्ञा की विडम्बना में मोही मानवों की पशुओं से अग्रता—भैया ! जरा तुलना करके देख लो कि यह मनुष्य इन बातों में पशुओं से भी गया बीता बन जाता है। पशु का पेट भरा हो तो कुछ भी डालो खाने के लिए उस ओर वह देखता तक भी नहीं है, किन्तु मनुष्य भरपेट भोजन करके भी आया हो, पर कहीं कोई रसीली चाट मिठाई कुछ चीज मिल जाय तो तोला दो तोला खाने के लिए तो जगह सदैव बनी ही रहती है। पेट में भी जगह नहीं है तो मुंह में रखकर उसका स्वाद लेने के लिए कौन रोकता है, चलो स्वाद ही आता रहेगा और पान इलायची तो जब चाहे खाता रहता है पेट भरा होने पर भी। इसकी आहार संज्ञा बड़ी गजब की हो रही है। डर की बात देखो तो पशु को इतना डर नहीं है। मान लो आजकल बड़े देश कलह हो रहे हैं, दूसरे देश हमलावर बन रहे हैं, ऐसे हमलों में आपको गाय और बछिया की क्या चिन्ता? कुछ गड़बड़ हो जाय, प्राण चले जायें तो चले जायें पर कुछ चिन्ता नहीं है, और इस मनुष्य को बड़ी चिन्ताएँ लग रही हैं। पशुओं पर कोई लाठी लेकर ही आ जाय, कोई मारने आ जाय तो उनको भय उत्पन्न होता है अन्यथा वे जहाँ हैं वहाँ ही निर्भय बने रहते हैं। भयसंज्ञा से भी यह मनुष्य जितना जो चतुर है उतना ही अपना भय बढ़ाये हुए है।

मैथुन और परिग्रह संज्ञा की विडम्बना में मोही मानवों की पशुओं से अग्रता—मैथुन संज्ञा की बात भी बड़ी गजब की है। पशुओं में भी उनकी ऋतुएँ हैं मैथुन की, पर मनुष्य को कोई ऋतुओं का विचार नहीं। बहुत ही जब तीव्र वेदना होती है कामविषयक तभी ये पशु मैथुनसंज्ञा में प्रवृत्त होते हैं, पर यह मनुष्य बना बनाकर, चाह चाहकर इच्छायें बढ़ाता है और उन संज्ञाओं में लगता है। परिग्रह संज्ञा की बात भी बड़ी विचित्र है। सभी लोग जानते हैं। पशुओं के कहाँ कोई परिग्रह है, कहीं किसी पशु को अपने खाने के लिए कुछ संग्रह करके रखते हुए देखा है? अरे वे पशु कुछ भी जोड़कर नहीं रखते, जब जैसा जिस जगह मिल गया खा लिया। एक प्रवृत्ति की बात कह रहे हैं, कहीं इसका यह अर्थ नहीं है कि तब तो इस स्थिति में पशु मनुष्यों से अच्छे है। अरे चाहे पशु हो, मनुष्य हो, जितने अंशों में इच्छाओं का निरोध है उतना ही वह सन्तुष्ट है और सुखी है। पर बाहरी बातें जो कि हमारे विभावों के आश्रय स्थान बनते हैं उनकी बात कहा जा रही है। देख लो ऊपर से इन परिग्रहों की दृष्टि से ये मनुष्य पशुओं से कहीं अधिक हानि में पड़ रहे हैं। कितने महल खड़े किये, कितना वैभव जोड़ा लखपति हुए तो करोड़पति की चाह। करोड़पति हुए तो अरबपति की चाह और उस चाह की पूर्ति में अन्याय हो, कुछ हो, जिस चाहे तरह से लगे रहना, ये सब बातें मनुष्यों में देखी जा रही हैं।

निद्रा में, मनुष्यों की पशुओं से अग्रता—यह तो संज्ञाओं की बात कही है। एक निद्रा की बात इससे अलग और बढ़कर है। निद्रा में भी यह मनुष्य पशुओं से, पक्षियों से अधिक हानि में है। बरात के बाजे भी बजकर

निकल जायें तो भी कहो किसी-किसी मनुष्य की नींद न खुले, पता ही नहीं पड़ता, किन्तु कुत्ता, बिल्ली, गाय, घोड़ा सभी पशुओं की बात देख लो, जरासी आहट होने पर तुरन्त आँखें खुल जाती हैं। कोई दबे पैर भी उन सोये हुए जानवरों के पास से निकल जाये, इतने में ही आँखें खुल जाती हैं।

मनुष्य की महत्ता का कारण—किस बात से यह मनुष्य बड़ा है इन पशुओं से सो तो बताओ? एक धर्मपालन में यह मनुष्य बड़ा है मनुष्य संयम पाल सकता है और ऊहापोहात्मक तत्त्वज्ञान में भी बढ़ सकता है, अतएव मनुष्य उत्कृष्ट है। जिस दिशा में मनुष्य उत्कृष्ट है, ऊँचा है उस दिशा में मनुष्य का प्रयत्न नहीं होता, फिर मनुष्य का मनुष्यपना रहा ही क्या? मुख्य काम तो है अपना अपने आत्मा का हित करना, शरीर पोषण का नहीं। शरीर तो भव-भव में मिला। समस्त कष्टों का, समस्त अनर्थों का मूल यह शरीर है। इसके सम्बन्ध में सुख का लेश भी कभी हो नहीं सकता। इससे विरक्ति हो, उपेक्षा जगे और अपने आपके स्वरूप में मग्नता हो तो यह नरजन्म पाना सफल है, अन्यथा जैसे अनन्तभव धारण किये और छोड़े, उसी तरह से यह भव भी व्यर्थ में गंवा दिया तो फिर क्या लाभ मिला? जो इस शरीर से आत्महित की बात कर सके वह है विवेकी बुद्धिमान् और जो पहिली आदतों के ही माफिक शरीर को भोगों में ही जुटाये तो उसका यह दुर्लभ नरजन्म पाना बिल्कुल निष्फल है।

श्लोक-166

भवोद्भवानि दुःखानिह यानि यानीह देहिभिः।

सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्॥166॥

शरीर की वृत्ति में क्लेश और शरीर की निवृत्ति में निःक्लेशता—इस लोक में संसार से उत्पन्न जो जो दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं वे इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं। शरीर निवृत्त हो गया फिर इस जीव को कोई दुःख ही नहीं है। जरा जीव के स्वभाव पर तो दृष्टिपात करें क्या स्वभाव है जीव का, कौनसा सर्वस्व है इस जीव का? यह स्वरूप सर्वस्व इस जीव के अनर्थ के लिए नहीं है। किसी भी पदार्थ का स्वरूप उस पदार्थ के बिगाड़ के लिए नहीं हुआ करता। किसी भी पदार्थ का बिगाड़ तब ही संभव है जब किसी पर-उपाधिभूत पदार्थ का सम्बन्ध बन रहा हो। शरीर से निवृत्त हैं सिद्धभगवान और भले ही शरीर है अरहंतप्रभु के, फिर भी घातिया कर्मों का सद्भाव न होने से वह शरीर उनके असाता के लिए नहीं बनता तो जो मुक्त जीव हैं उनको किसी प्रकार की आकुलता ही नहीं है।

आकुलताविनाशक श्रद्धान—हमें आकुलता जगती है तो आकुलता मिटाने के लिए अन्तरङ्ग में यह श्रद्धा तो बनायें रहे कि मेरा स्वरूप तो आनन्दमय ही है। दुःख का इसमें प्रवेश ही नहीं है। ऐसी दृढ़ धारणा बनाए रहें और दुःख आ रहे हैं, भोगने पड़ रहे हैं तो भोगते रहें, दुःख भोगते हुए भी अन्तरङ्ग में श्रद्धा अपने को सहज आनन्दस्वरूप मानने की ही बनाये रहें। कभी सुख भी भोगना पड़ता है तो सुख भोगने के अवसर में भी अपने आपको इस क्षोभमय सुख से रहित विशुद्ध आनन्दमय मानने का ही अपने में प्रयत्न करें। एकत्वविभक्त निज अंतस्तत्त्व है अर्थात् अपने आपके आत्मा में जो सहजस्वरूप बसा हुआ है वह स्वरूप पर से विभक्त है और अपने आपमें तन्मय है, वास्तविक वस्तु के स्वरूप को जाने बिना शान्ति का मार्ग मिल ही नहीं सकता है। निज को निज पर को पर जानने की वृत्ति इस जीव के उद्धार के लिए है, यह बात तभी समझी जा सकती है जब हमें द्रव्य गुण पर्याय आदिक सब विधिविधानों से स्वरूप का यथार्थ निर्णय हो, तब ही इस शरीर की प्रीति हट सकती है और शरीर से प्रीति हटी कि शरीर के रहते हुए भी दुःख जाल भी उसके हटने लगते हैं। हे आत्मन् ! जन्म और मरण करते हुए जो क्लेश सहने में आ रहे हैं वे सब इस शरीर के ग्रहण करने से ही आ रहे हैं। तू शरीररहित ज्ञानमात्र अपने को दृष्टि में ले तो फिर ये क्लेश तुझे नहीं हो सकते हैं।

श्लोक-167

कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम्॥167॥

नरदेह की अशुचिता ढकने के लिए साजश्रृंगार—लोक में जो उत्तम पदार्थ माने जाते हैं वे भी इस शरीर का संसर्ग पाकर मलिन हो जाते हैं एक तो कपूर सुना होगा, देखा होगा, लगाते भी है, कितनी सुगंध होती है, उसमें शीतलता का भी स्वभाव पड़ा हुआ है, ऐसा पवित्र शीतल सुगंधित कपूर भी शरीर के सम्बन्ध से दुर्गन्धित और अपावन बन जाता है। यह शरीर ऐसा अशुचि है इसी कारण इसकी अशुचिता को दूर करने के ख्याल से लोग वस्त्र पहिनते हैं बढ़िया बढ़िया चमकदार कि इस शरीर की शोभा बढ़ जाय, इसकी कान्ति चमक जाय। लोग रंग पसंद करते हैं, हमको किस तरह की धोती चाहिए, कैसा हमारी कमीज का रंग हो, डिजाइन पसंद करते हैं, यों अनेक प्रकार की बातें निरखते हैं, यह छटनी किसलिए की जा रही है? इस शरीर में ममत्व है, शरीर का लगाव है, इसे चमकाना है ना, तो वहाँ अनेक प्रकार के विकल्प चलते हैं। एक तो सुगम सहज थोड़े रूप में कोई बात उठ आयी ठीक है और एक बड़ी छटनी हो, बड़ा चिन्तन हो, जब

तक 10-15 थान न देख लें कि कौनसा कपड़ा इस शरीर पर बड़ा सुहावना लगेगा, निर्णय ही नहीं हो पाता कि कौनसा कपड़ा हम लें। ये सब बातें इस शरीर की आसक्ति में हो रही हैं।

नरदेह संसर्ग से लोकपवित्र पदार्थों की अपवित्रता—कुमकुम अगुरु, कस्तूरी, चन्दन आदिक ये सभी सुगन्धित पदार्थ भी इस शरीर का सम्बन्ध पाकर मलिन हो जाते हैं। शरीर स्वयं मैला है, यह ही मैला रहे इतना ही नहीं किन्तु इसके संसर्ग से उत्तमोत्तम पदार्थ भी मलिन हो जाया करते हैं। यह इसमें और अधिकता पडी हुई है कि लगाते लगाते ही अशुद्ध हो जाते हैं। देर से अशुद्ध हों यह तो बात दूर जाने दो, पर संसर्गमात्र से भी ये पावन पदार्थ अशुद्ध हो जाया करते हैं। ऐसे स्वयं अशुचि और दूसरे पवित्र चीजों को भी अशुचि बना देने का कारणभूत यह शरीर रमण के योग्य नहीं है। इस शरीर से भिन्न ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपके स्वरूप को निहारकर सन्तुष्ट होवो, यही पुरुषार्थ हम आपका भला कर सकेगा।

श्लोक-168

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकमानाम् कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्॥168॥

देह के अशुचि पिण्ड पर चर्म का आवरण—अशुचिभावना के कथन को पूर्ण करते हुए इस अन्तिम छन्द में आचार्यदेव कह रहे हैं कि कैसा तो यह असार शरीर है और यह मनुष्यों को प्रीति के लिए कैसा बन रहा है? मनुष्य का यह शरीर चर्म के पदार्थों से बना हुआ है। जैसे घर में किसी बड़े अतिथि का आगमन हो तो अस्तव्यस्त पड़े हुए कूड़े के ढेर पर बड़े चमकीले सुहावने कपड़े का पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह पर्दा देखने में तो बड़ा सुहावना कान्तिमान नजर आता है पर पर्दे के भीतर क्या है? पर्दा उठाकर यदि कोई देख ले तो अस्तव्यस्त नाना प्रकार के लोहा मिट्टी कूड़ा का ढेर लगा हुआ है, ऐसे ही यह चमड़े का पर्दा चारों ओर से पड़ा हुआ है। पैरों से लेकर सिर तक पीठ पेट सभी जगह चमड़े का पर्दा पड़ा हुआ है। इस पर्दे को देखकर मोहीजन इसमें अनुराग करते हैं। यह चमकीला सुहावना एकसा चिकना हर प्रकार से एक दिल बहलाव करने वाला मान लिया है, किन्तु इस पर्दे के भीतर है क्या? पर्दा उठाकर ज्ञान से भीतर निरखकर देखो तो हाड़-मांस का लोथड़ है और रागरुधिर आदिक दुर्गन्धित चीजों से परिपूर्ण है।

शरीर की विनश्वरता—अति दुर्गन्धित है यह असार शरीर और फिर इतने पर भी यह रहा आये सो भी नहीं रहता। काल के मुख में बैठा हुआ है यह शरीर। जैसे किसी बड़े मगर के मुख में कोई जंतु रखा हुआ बैठा हो तो उसकी क्या कुशल है? ऐसे ही यमराज के मुख में अर्थात् आयुक्षय के प्रसंग में यह बैठा हुआ है,

इसकी क्या कुशल है? किसी भी समय अचानक मरण हो जाता है। लोग तो बहुत-बहुत वर्षों के मंसूबे बांधते हैं, यह करेंगे, यह करना है, लेकिन अचानक कब मर जाना है इसका कुछ निर्णय नहीं करते हैं। यह शरीर यम के मुख में बैठा हुआ है और फिर जितनी देर को बच भी जाय यम के मुख से अर्थात् जीवित भी रहे उतने काल भी तो यह रोगरूपी सर्पों का घर है। जैसे जिस घर में सर्प रह रहे हों तो उस घर की क्या कुशल है, ऐसे ही शरीर में जगह-जगह रोग बस रहे हों, कहीं कुछ कहीं कुछ तो उस शरीर की क्या कुशल है? इस शरीर पर इतना अहंकार करना, प्रीति करना, यह शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है?

अशुचिभावना का उपकार—अशुचि भावना में यह भाव रखना चाहिए कि आत्मा तो स्वभाव से निर्मल है, उसमें कहीं मल होता ही नहीं है। आत्मस्वरूप से देखो तो उसमें मल कहाँ चिपक सकता है, किन्तु कर्मों के निमित्त से जो इसके शरीर का सम्बन्ध है उसे यह जीव मोह से कठिन मानकर भला जानता है। यह मनुष्यों का शरीर सर्वप्रकार से अपवित्रता का घर है। ऐसे अपवित्र शरीर को पाकर हम कोई हित की कल्याण की बात कर सकें, उसका उपाय यही है कि अशुचि भावना भी करके शरीर से विरक्त होकर आत्मा के निर्मलस्वरूप में रमने की रुचि बनायें। यह बात मनुष्यभव में हो सकती है। संयम की पूर्णता, साक्षात् मोक्षमार्ग इस मनुष्य भव से ही बनता है, तब इसका किस ढंग से उपभोग करना, कैसे भावना बनाना, कैसी दृष्टि करना, कैसी प्रवृत्ति करना ये सब योग्य समझकर उनमें लगे और अशुचि शरीर से निवृत्त होकर पवित्र आत्मतत्त्व में अपना उपयोग जमायें, यही है इस भावना का सारभूत तात्पर्य।

श्लोक-169

मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते।

स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः॥169॥

योग और आस्रव—अब आस्रवभावना का वर्णन कर रहे हैं। आस्रव किसे कहते हैं? इसका स्वरूप इस श्लोक में कहा गया है। मन, वचन, काय की क्रिया का नाम है योग और इस योग को ही तत्त्वज्ञानी पुरुष कहा करते हैं आस्रव। कहीं कहीं तो मन, वचन, काय इस प्रकार का क्रम लेकर बोला करते हैं और कहीं शरीर, वचन, मन, ऐसा भी बोलते हैं। इस दूसरी पद्धति का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में है। छठे अध्याय में प्रथम दो सूत्र यों आये हैं 'कायवाङ्. मनःकर्म योगः । स आस्रवः।' शरीर, वचन और मन का जो परिस्पंद है वह योग है और वही आस्रव है। यद्यपि काय, वचन, मन की हालत का ही नाम सीधा आस्रव नहीं है, किन्तु काय, वचन व मन के परिस्पंद का निमित्त पाकर जो आत्मप्रदेशों में परिस्पंद होता है वह आस्रव कहा जाता है।

योगों में विशेषता—काय का परिस्पंद एक मोटा परिस्पंद है जो लोगों की दृष्टि में शीघ्र आ जाता है। यह शरीर हिलेडुले, हाथ से क्रिया की, पैर से क्रिया की, यह सब दृष्टि तक में आ जाता है। तो काययोग और स्थूलयोग है, उससे सूक्ष्म है वचन योग। जो कामयोग की अपेक्षा सूक्ष्मता को लिए हुए है और वचनयोग से सूक्ष्म है वह है मनोयोग। केवल एक मन से चिन्तन किया, वहाँ जो मन में परिस्पंद हुआ वह है मनोयोग। इस तरह स्थूल से सूक्ष्म के योग आने पर क्रम बनता है—काय, वचन और मन। सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने पर क्रम बनता है—मन, वचन, काय। यों योग तीन प्रकार के कहे गए हैं। यद्यपि तीन प्रकार के योगों में वस्तुतः योग का लक्षण एक ही है और वह है आत्मप्रदेश का परिस्पंद होना, किन्तु आत्मप्रदेश का परिस्पंद किन-किन निमित्तों को पाकर हुआ करता है? उनका नाम लेकर योग में भेद डालना यह उपचार कथन है और यों औपचारिक तीन भेद हो जाते हैं। आस्रव से होता क्या है? इस बात का वर्णन अब अगले श्लोक में कह रहे हैं।

श्लोक-170

वार्द्धरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम्।

छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः॥170॥

दृष्टान्तपूर्वक आस्रवस्वरूप का विवरण—जैसे समुद्र में रहने वाले जहाज में छिद्रों के द्वार से जल का ग्रहण होता है इसी तरह यह जीव शुभोपयोग अशुभोपयोगरूपी छिद्रों से शुभ और अशुभ कर्मों को ग्रहण करता है। जहाज चल रहा है पानी में, उसमें कहीं छिद्र हो जायें तो उन छिद्रों के द्वार से पानी नाव में आता है और पानी के आने से नाव डूब सकती है, ऐसे ही इस जीव में शुभोपयोग और अशुभोपयोग के छिद्रों से शुभ और अशुभ कर्म आते हैं और इन शुभ अशुभ कर्मों के बोझ से यह जीव संसार में डूब जाता है। आस्रव का अर्थ 'आना' है पर एक ऐसे विशिष्ट प्रकार के आने में आस्रव का प्रयोग होता है। जैसे कि किसी जमीन में से सूक्ष्म नाना छिद्रों से झिरकर पानी आता है तो ऐसे आने वाले पानी के लिए आस्रव का प्रयोग हो सकता है और एकदम सीधा ही प्रवाह रूप से आने में आस्रव का प्रयोग नहीं होता। यों ही जीव के समस्त प्रदेशों में जीव के ही शुभ-अशुभरूप सूक्ष्म छिद्रों से जो कर्मों का आगमन होता है उसका नाम है आस्रव।

आस्रव का फल और साधन—आस्रव का फल क्या होता है? वह है यह समस्त संसार। चारों गतियों में जन्म ले लेकर यह जीव शुभ-अशुभ कर्मों का फल भी तो पाया करता है। आस्रव तत्त्व हेय है। आस्रव का मूल द्वार अशुद्ध भाव है। उस अशुद्ध भाव के दो प्रकार हो गए—एक शुभ भाव और एक अशुभ भाव। हैं दोनों ही अशुद्ध

भाव। शुद्धभाव तो रागद्वेष रहित केवल चैतन्यप्रकाश ही है। जहाँ किसी भी प्रकार का राग अथवा द्वेष का अंश समन्वित है वह भाव अशुद्ध भाव है। अशुद्धभाव होने पर भी शुभ भाव से तो पुण्य का आस्रव होता है और अशुभभाव से पाप का आस्रव होता है। हम आप अपने इस रात दिन के 24 घंटों में कितना तो शुभ भाव करते हैं और कितना अशुभभाव करते हैं और कितनी शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि दिया करते है? इन तीन बातों का तो निरीक्षण अवश्य करना चाहिए। और फिर निरीक्षण में निरख लो कि हम शुभभाव कितने अंशों में करते है।

आस्रव में अपध्यान की विशेषता—एक अपध्यान नामक अनर्थदंड है जिसका अर्थ यह है कि आत्मा का कुछ प्रयोजन भी जहाँ नहीं सधता। प्रयोजन है इसका इस शरीर के रखने के लिए आजीविका का और आत्मकल्याण के लिए धर्म में सावधान रहने का। केवल दो ही तो प्रयोजन है। यद्यपि मनुष्य की कलायें 72 मानी गयी हैं किन्तु उन कलाओं में दो ही सरदार कलायें हैं—एक तो आजीविका और दूसरी जीव उद्धार। तो दोनों प्रयोजन जहाँ नहीं है और फिर भी उसका बहुत ध्यान किया जाना चिन्तन किया जाना वह सब अपध्यान है। जैसे दूसरे का वध विचारना, नुकसान विचारना, छेदन, भेदन, विनाश, नुकसान विचारना, बुरा विचारना, ईर्ष्या करना, दूसरे के काम बिगाड़ना, धर्म में विघ्न डालना जिनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं सधता और फिर अटपट काम किए जायें, चिन्तन किया जाय तो वे सब अपध्यान है। इसको भी निरख लो कि हम अपध्यान कितने अंशों तक करते हैं?

अपध्यान की नितान्त व्यर्थता—संसार में सभी जीव अपने से अत्यन्त भिन्न हैं। हमारे विचारने से किसी दूसरे का नुकसान बनता नहीं है अथवा दूसरे लोग मेरे बारे में कुछ बुरा विचार रखें तो उससे मेरा कुछ बनता नहीं है। जैसे कौवा के अटपट कोसने से गाय नहीं मरती, ऐसे ही हम आप किसी के बारे में कितना ही अनर्थ और उसके विनाश की बात सोचें तो हमारे सोचने से उसका बिगाड़ नहीं होता। वहाँ तो जो कुछ होना है वह होता है उसके उदय के अनुसार ही। कदाचित् आपके खोटे चिन्तन के अनुसार दूसरे का बिगाड़ भी हो जाय तो आपके चिन्तन के कारण बिगाड़ उसका नहीं होता, किन्तु उसका ऐसा ही पाप का उदय आया था तो उसको फल मिलने में कोई तो निमित्त बनता। आप न निमित्त बनते तो अन्य कोई निमित्त बनता। तो जब हमारे विचार के कारण दूसरों का कुछ बिगाड़ नहीं होता और हम बुरा विचार करें तो अपने आपमें ही पाप का बन्ध कर रहे हैं। अब जिम्मेदारी समझना चाहिए अपनी। हम क्यों ऐसा काम करें कि जिससे हानि ही हानि हमें उठानी पड़े। दूसरों का बुरा चिन्तन करने से हानि ही हानि उठानी पड़ती है। तत्काल दुःख भोगा और उसी व्यवहार के कारण दूसरे से उपद्रव भी आयेंगे, उन्हें भी भोगेगा और कर्मबन्ध होने से दुर्गति में जन्म होगा, वह भी क्लेश भोगना पड़ेगा।

प्रवृत्तियों में लाभ हानि का ईक्षण—पर के अनिष्टचिन्तन से विपत्तियाँ तो कितनी ही आती हैं लेकिन लाभ की बात बताओ। दूसरे का बुरा विचारने से, ईर्ष्या रखने से विघ्न करने से खुद को लाभ कितना होता है? इस पर

भी दृष्टिपात करें। लाभ तो कुछ मिलता नहीं, पर सारे नुकसान ही नुकसान होते हैं, यह बात सुनिश्चित है। अपध्यान अथवा अन्य खोटे कार्य इन सबमें अपना कितना समय व्यतीत होता है और अर्हद्भक्ति, गुरुसेवा, दान, परोपकार, दया आदिक परिणामों में कितने क्षण व्यतीत होते हैं? इसकी तुलना करो और साथ ही यह भी निरख लो कि किसी क्षण हम कितने अंशों में एक शुद्ध निज अंतस्तत्त्व की ओर लगे रहने के लिए भावना बनाते हैं, इन तीन बातों की परख कीजिए तो सही, आपको आपकी गलती दिख जाय, यह भी एक बड़ा शुभ काम है, अच्छे होनहार का सूचक है।

मोह का अपराध—संसार के सभी जीव इतनी मोटी गलती कर रहे हैं, जैसे कि वैभव है प्रकट भिन्न, पर यह तो मेरा सर्वस्व ही है, इससे ही मुझे शान्ति है, इससे ही मेरा उद्धार है, इस प्रकार का आशय बना रहे हैं। यह कितना मोटा अपराध है पर इस अपराध को मानने वाले लोग हैं कितने? कितने पुरुषों के चित्त में यह बात समायी हुई है कि मैं मोह का कितना विकट अपराध कर रहा हूँ, इस पर कितना बड़ा खेद हो रहा है। अपनी गलती अपने को विदित हो जाय यह भी एक सुधार का कदम है। तो शुभ अशुभयोग रूप छिद्रों से यह जीव शुभ अशुभ कर्मों को ग्रहण करता है, यही आस्रव है, यह आस्रव दुःखदायी है। अहितरूप है, इससे बचने के लिए शुभ अशुभ भावों को रोके।

ऐसा करने के लिए शुद्ध निजस्वरूप का परिज्ञान बनाये रहें तो इससे इस आस्रव पर हमारी विजय होगी और मोक्षमार्ग में निर्बाध चल सकेंगे।

श्लोक-171

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्।

मैत्र्यादिभावनारूढ मनः सूते शुभास्रवम्॥171॥

यम व्रत में शुभास्रव की कारणता—आस्रव दो प्रकार के हैं—एक शुभाश्रव और एक अशुभास्रव। शुभास्रव का वर्णन इस श्लोक में किया है। ऐसा मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है जो मन यम प्रसंग निर्वेग और तत्त्वचिन्तन का अवलम्बन लिए हुए हो। वह मन जो मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ भावना में आरूढ हो, ऐसा ही यम अर्थात् यह उपयोग यही आस्रव शुभास्रव को उत्पन्न करता है। यम कहते हैं उसे जो जिन्दगीपर्यन्त के लिए त्याग है। जैसे अणुव्रत और महाव्रत। कोई पुरुष कहे कि मैं तीन वर्ष के लिए महाव्रत ग्रहण करता हूँ तो वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला है, महाव्रत का धारण जन्मपर्यन्त के लिए होता है। जैसे महाव्रत का पालन यावत् जीवनभर के लिए हुआ करता है ऐसे ही अणुव्रत का ग्रहण यावत् जीवनपर्यन्त के

लिए हुआ करता है। हाँ, अणुव्रतीमहाव्रत धारण कर लें तो यह और भी अच्छा होगा। कोई कहे कि मैं 2 वर्ष के लिए अणुव्रत ग्रहण करता हूँ तो ऐसा नहीं होता। जो ग्रहण करे वह सदा के लिए ग्रहण करे, यही यम कहलाता है।

नियम व्रतों में शुभास्रव की कारणता—नियम नियत समय तक की प्रतिज्ञा को कहते हैं। जैसे एक दिन का उपवास ठान लिया, हम एक दिन का उपवास करेंगे, कल के दिन तो यह नियम है। सदा तो यह अनशन वाला रहेगा नहीं। मैंने एक दिन का नियम लिया, ऐसा कोई करे तो यह नियम में शामिल है, यम में शामिल नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य एक धर्मानुराग की होनी चाहिए कि यह कल्पना न बनाए कि मेरा 24 घंटे का त्याग है, ये 24 घंटे निकलने पर फिर सभी चीजें अच्छी-अच्छी मिष्टान्न वगैरह बनाकर खायेंगे। इस प्रकार सीमा से बाहर की स्थिति में विकल्प न होना चाहिए, यह एक इसमें अतिशय वाली बात होनी योग्य है। कुछ लोग ऐसा अपना बल रखते भी हैं, किन्तु अक्सर लोग उपवास करने के बाद यह सीमा बराबर ध्यान में रखते हैं कि सुबह 7 बजे तक के लिए त्याग है। अब कितनी देर रह गयी? अभी 2 घंटे बाकी हैं, तीन घंटे बाकी हैं। बजने तो दो 7 अभी अच्छा-अच्छा बनाकर खायेंगे। ये सीमा रखने की स्थिति का विकल्प बना हुआ है, वह अतिशय नहीं पैदा करने देता। हमारा कर्तव्य है कि नाना विकल्प न बना लें। विकल्प प्रायः सबमें बने ही रहते हैं। भाद्रपद सुदी चतुर्दशी को उपवास करने वाले लोग जब से ही उपवास ठाना तभी से क्या यह चित्त में नहीं रखते कि आने तो दो पूनम, सुबह के 6 बजते ही अच्छा-अच्छा बनाकर खायेंगे, ऐसा विकल्प न बनाना चाहिए। अणुव्रत और महाव्रत सीमा लेकर नहीं धारण किए जाते, इस कारण यह यमरूप व्रत हैं।

प्रशमभाव से शुभ आस्रव—प्रशम कषायों की मंदता होना, क्रोध, मान, माया, लोभ, सभी कषायें मंद होना यह प्रशम कहलाता है। कुछ लोग ऐसा कहने लगते कि हमारे तो और कोई कषाय नहीं है, सिर्फ क्रोधभर नहीं छूटता। क्या उसकी यह बात सही है? जिसके क्रोध है उसके सब कषायें हैं और जिसके कोई भी एक कषाय हो, बुद्धिपूर्वक प्रायोगिक कोई भी कषाय हो उसके सभी कषायें हैं। जैसे क्रोध के शमन बिना प्रशम नहीं हाता ऐसे ही मान, माया, लोभ कषायों के शमन बिना भी प्रशमभाव नहीं होता है। यों प्रशमभाव का अवलम्बन लेने वाला शुभास्रव को उत्पन्न करता है। शुभास्रव को उत्पन्न करने वाले भाव क्या होते हैं? इस प्रकरण में यम, नियम और प्रशम का वर्णन तो किया, अब आगे और भी तत्त्वों का वर्णन होगा।

निर्वेदभाव से शुभ आस्रव—शुभास्रव किन-किन परिणामों से होता है। उनका वर्णन इस छन्द में है। निर्वेद परिणाम से सहित मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है। निर्वेद का अर्थ विधिपरक और निषेधपरक दोनों प्रकार से है। संसार से विरक्ति का आना सो निर्वेद है और धर्म में अनुराग होना भी निर्वेद है। ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न आधाररूप नहीं हैं। किन्तु वैराग्य हो वहाँ अनुराग होता है। जहाँ धर्मानुराग हो वहाँ वैराग्य होता है तो

वैराग्य और धर्मानुराग इन दोनों से समन्वित परिणाम निर्वेदभाव है। जहाँ निर्वेदभाव है वह मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है।

तत्त्वचिन्तन से शुभ आस्रव—तत्त्वचिन्तन से सहित मन पुण्यास्रव को करता है। वस्तु का सहजस्वरूप कैसा है, विकार किस प्रकार आता है आदिक अनेक प्रासंगिक तत्त्वस्वरूप का चिन्तवन करना यह एक पवित्र परिणाम है और इस तत्त्वचिन्तन परिणाम से सहित मन शुभास्रव को करता है।

चार प्रकार की और भी पवित्र भावनाएँ होती हैं—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य। ये समस्त भाव शुभास्रव को उत्पन्न करता है।

मैत्रीभाव से शुभ आस्रव—समता के प्रसंग में यह चार प्रकार की भावनाओं का बहुत विशेष सहयोग है। संसार के समस्त जीवों में मैत्री परिणाम जगे वहाँ ही समता प्रकट होती है। समता का नाम सामायिक है। समता वहाँ ही सम्भव है जहाँ सबको समान समझ लिया जाय। सम का परिणाम का नाम समता है। जगत के सभी जीव मेरे ही समान हैं, इस प्रकार की दृष्टि जगने पर समता प्रकट होती है, मित्रता प्रकट होती है। जिस दृष्टि से सब जीव समान है उस दृष्टि का एक ऐसा अपूर्व बल है कि उस दृष्टि के साधक पुरुष को विह्वलता नहीं आती। सभी जीव निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त अशुद्ध और शुद्ध सभी जीव किस स्वरूप से अस्तित्व रखते हैं उस स्वरूप की दृष्टि से देखा जाय तो सबका एक समान स्वरूप है। उस स्वरूप की दृष्टि में समता प्रकट होती है। और तब अपने समान जिन्हें समझा है उनमें दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी अभिलाषा का जगना प्राकृतिक बात है। समस्त जीवों में दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी अभिलाषा करने का नाम मैत्री भाव है। मैत्री परिणाम से पुण्य का आस्रव होता है।

गुणियों में प्रमोदभाव से शुभ आस्रव—गुणीजनों को देखकर हृदय हर्ष विभोर हो जाय, इस परिणाम का नाम प्रमोद है। देखिए अपना चित्त अपना उपयोग अपने आपमें है। रत्नत्रय का स्वरूप स्मरण करके रत्नत्रयधारियों की अन्तर्वृत्ति विज्ञान आदि करके हृदय में हर्ष का परिणाम न जगे तो समझिये कि अभी धर्म में प्रीति ही नहीं हुई है। किसी धर्मात्मा के प्रति विनय करके, हर्षित चित्त करके अपनी एक पुण्यवृत्ति बनाई जाती है, वह खुद के भले के लिए है। किसी पर ऐहसान लदने के लिए अथवा लोक में अपनी ख्याति चाहने के लिए नहीं है। यह जीव खुद-खुद में खुद का लाभ उत्पन्न करें ऐसी स्थिति पाने के लिए यह बात बहुत जरूरी है कि गुणीजनों को देखकर हृदय में प्रमोदभाव जगे। दिखावटी प्रमोद नहीं हो कि शास्त्र में लिखा है कि धर्मात्मा जनों से, गुणीजनों से प्रमोद भाव करना चाहिए, सो अपनी मुद्रा बनाकर अपनी जबरदस्ती ही वृत्ति बनाकर प्रमोद का पार्ट बना लेना, यह कोई पुण्यास्रव का हेतु नहीं है। जिसको अपने शुद्ध सहजस्वरूप में प्रीति है उसको रागांश रहने तक शुद्ध सहज स्वरूप के आराधकों में प्रमोद रहता ही है। यह प्रमोदभाव पुण्य का आस्रव करने वाला है।

अनुकम्पाभाव से शुभ आस्रव—दया परिणाम—दुःखी जीव को देखकर दयाभाव करना। प्रायः ऐसी बात लोगों में होती भी है। निकट भूखे बैठे हुए किसी को देखकर खुद ही तो खाये और दूसरे को कुछ न दे, ऐसी बात नहीं बनती है। बल्कि करते तो लोग यहाँ तक हैं कि पास में कोई कुत्ता आदिक जानवर बैठा हो तो उसे कुछ खाना देकर स्वयं भी खाते रहते हैं। ऐसे ही समस्त वृत्तियों में समझिये कि जहाँ दुःखी जीवों को निरखा उन्हें दुःखी ही देखते रहें और खुद बड़े शोक शान से रहा करें, यह महापुरुषों से नहीं बनता है। उद्वण्ड और विषयों के तीव्र अभिलाषी अज्ञानी जन तो ऐसा कर सकते हैं, किन्तु जिनके कुछ भी विवेक जगा है उनसे यह बात नहीं बन सकती कि सामने तो अत्यन्त दुःखी भूखा प्यासा स्थानरहित कोई पुरुष रहता हो और खुद व्यर्थ के अनाप सनाप खर्च कर करके अपनी उदरपूर्ति में लगे हों, यह बात बड़े पुरुषों से नहीं बनती है, शोभायोग्य भी बात नहीं है। ज्ञानी जीव दुःखी जीवों को निरखकर करुणाभाव लाते ही हैं, मन में और जिस किसी प्रकार जिससे कि खुद के धर्म में बाधा न आये और दूसरों का उपकार हो जाय, ऐसी योग्य विधि से दुःखी जीवों के दुःख को दूर करने का यत्न करते हैं। इस अनुकम्पा का परिणाम पुण्यबंध का कराने वाला है।

माध्यस्थ्यभाव से शुभ आस्रव—चौथी भावना है माध्यस्थ्यभाव। जो जीव विपरीत वृत्ति वाले हैं, उद्वण्ड हैं, निपट अज्ञानी हैं ऐसे जीवों में राग अथवा द्वेष न करके अपने को मध्यस्थ बनाना यही है माध्यस्थ्यभाव। उद्वण्ड पुरुष से राग करके भी लाभ नहीं पाया जा सकता और द्वेष करके भी लाभ नहीं पाया जा सकता। अतएव जो ज्ञानी है उसमें माध्यस्थ्यभाव ही रखना चाहिए, इस माध्यस्थ्य परिणाम में उदारता, त्याग, क्षमा सभी गुण बसे हुए हैं। यों ये 4 प्रकार के परिणाम भी आत्मा में समता को उत्पन्न करते हैं। सब जीवों में मित्रता हुई तो समानता तभी हुई ना? गुणियों को देखकर हर्ष किया तो अपना ही बढ़ावा करके गुणियों के बराबर बनने का काम हुआ ना। दुःखी जीवों को देखकर दया का परिणाम किया तो उस दुःखी का दुःख मिटेगा तो वह उसके समान बन गया ना और माध्यस्थ्य परिणाम में तो समानता की बात कही ही गई है। यों ये 4 परिणाम समता के पोषक हैं और पुण्यास्रव को उत्पन्न करने वाले हैं।

श्लोक-172

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
संचिनोति मनःकर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्॥172॥

क्रोधकषाय का दहन—कषायरूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित और इन्द्रिय विषयों से व्याकुल मन जन्म के सम्बन्ध का सूचक व अशुभ कर्म का संचय करता है। कषायों को ज्वाला की उपमा देना बहुत ही युक्तिसंगत है। देखो ना, सभी प्रकार की कषायों से अन्तर में दाह उत्पन्न होती है। क्रोध करने की स्थिति में अन्तर्दाह रहती है, यह तो स्पष्ट नजर आता है। क्रोधी पुरुष की आँखें चढ़ जाती हैं, लाल हो जाती हैं। आप यहाँ बैठे हैं, जरा किसी तरह से आँखें लाल करके तो दिखाओ, नहीं दिखा सकते। विकट क्रोध पैदा हो तो आँखें लाल हो जाती है। क्रोधभाव यद्यपि आत्मा का परिणाम है। विकार भाव है, लेकिन कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है इन शरीरी जीवों में कि क्रोधभाव जगे तो आँखों के रंग पर भी असर पड़ जाता है। क्रोध जागृत होने पर यहाँ मुँह भी, यह बोल भी ठीक ठीक काम नहीं करता है। इसलिए क्रोध में शब्द भी बिल्कुल अस्पष्ट निकलते हैं और उस अस्पष्ट और गर्जी हुई बोलचाल से यह भी दुःखी होता है और जिस पर यह क्रोध करता है वह भी दुःखी होता है और जितने सुनने वाले लोग होंगे वे भी दुःखी हो जाते हैं।

मान, माया, लोभ का दहन—मान में क्या कम दाह है? दूसरे लोगों को तुच्छ समझना, अपने आपको सबसे महान् समझना और ऐसा ही होने के लिए आपकी प्रवृत्ति करना इन सब बातों में क्या कम अन्तर्दाह है? मान भी एक ज्वाला है, मायाचार भी कठिन ज्वाला है। मायाचारी पुरुष को रात्रि को अच्छी नींद भी नहीं आती, क्या-क्या ख्याल, क्या-क्या भ्रम, क्या-क्या शंकायें उत्पन्न होती हैं कि इसकी नींद उचट जाती है। वह नींद नहीं ले पाता है। कितना अन्याय का परिणाम है? किसी से कुछ कह दिया, किसी से कुछ कह दिया और किसी-किसी मनुष्य में ऐसी प्रकृति होती है कि यथा तथा मायाचार का व्यवहार करता है। लाभ कुछ भी नहीं है किन्तु जब यह प्रकृति बन जाती है, उदय ही इस प्रकार है तो वे सब अहितकारी बातों चलती हैं, माया कषाय भी ज्वाला है, लोभकषाय भी ज्वाला है। लोभ से भी अन्तरंग में दाह उत्पन्न होती है। यों कषाय की ज्वालाओं से उद्दीप्त मन जो कि विषयों से व्याकुल किया गया है वह मन अशुभ कर्मों का संचय करता है।

सम्यग्ज्ञान के बल का प्रभाव—इस जीव का सर्वोच्च वैभव है सम्यग्ज्ञान। सब कुछ पा ले और कुछ भी समझने की या किसी भी चीज को संभालने की योग्यता नहीं है वहाँ बुद्धि चलती ही नहीं है, ऐसा विचित्र बावलापन साआ जाय तो वहाँ इसे मिला क्या? जड़ विभूति कितनी भी हो किन्तु सम्यग्ज्ञान का अभ्युदय न हो तो वह तो धूलवत् है। उससे जीव को लाभ क्या? सम्यग्ज्ञान व्यवस्थित है और बाहरी प्रसंग लोगों की महत्ता के लायक न जुड़े हों तो भी इस जीव को हानि नहीं है। यथार्थ परिज्ञान करना ही सर्वोच्च वैभव है। जहाँ सही ज्ञान बन जाय, निज को निज पर को पर यथार्थ रूप से जान लेने की समझ बन जाय, वहाँ है वास्तविक अमीरी। जो विषयों से व्याकुल हो जाते हैं उनको यह अमीरी कहाँ रक्खी है? कितना असार काम है विषयों का प्रसंग? इसने इस जीव को मलिन कर दिया है। किन्तु जब ऐसा ही मोह का उदय है तो इसे जन्म मरण के चक्कर में अवश होकर लगना ही पड़ता है इन कर्मों का संचय विषय और कषायों की जागृति

से है। जैसे कि देवस्तुति में कहा है ना—आत्म के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।। विषय और कषायों के परिणाम आत्मा में अहितरूप हैं। प्रभु से यह भावना की जा रही है कि हे नाथ ! मेरे में विषय और कषायों की परिणति न जगह। जगती है विषय कषायों की परिणति तो यह जन्म मरण की परम्परा ही बढ़ाने वाली है। ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान के बल से विषय और कषायों से हटकर अपने आपके अन्तरंग में अपने आपकी उपासना करते रहते हैं। इस आत्म-उपासना से कर्मों का आना बन्द हो जाता है।

श्लोक-173

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्।

शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम्॥173॥

सत्यवचनयोग से शुभास्रव—पूर्व छन्द में मन की परिणति द्वारा आस्रव का वर्णन किया था। इस छन्द में वचनयोग के कारण आस्रव होने का वर्णन किया है। समस्त विश्व के व्यापारों से रहित और श्रुतज्ञान का अवलम्बन करने वाला सत्यवचन ही शुभास्रव के लिए जानना चाहिए। सत्य शब्द में आत्महित की प्रमुखता का स्थान है। सत्य वचन वही कहलाते हैं जो आत्मा का हित करने वाले हों। सत्य बात सबके भले के लिए होती है। कोई उल्टी हठ लिए बैठा हो उसकी बात तो अलग है, पर सत्यवचन स्व और पर के हित के लिए हुआ करते हैं। सत्यवचन वही हैं जहाँ सर्वप्रकार के व्यापार दूर हो गए हैं। कहते हैं ना कि एक असत्य बोल देने से अनेक प्रकार के नटखट हो जाया करते हैं, उन नटखटों का नाम है विश्वव्यापार। उन सारे नटखटों से रहित सत्यवचनव्यवहार होता है। सत्यवचनयोग से शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

श्लोक-174

अपवादास्पदीभूतसन्मार्गोपदेशकम्।

पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः॥174॥

असत्यवचन से पापास्रव—पुण्यास्रव का वर्णन करके अब पापास्रव का वर्णन किया जा रहा है। निन्दा का स्थान, असन्मार्ग का उपदेश, असत् कठोर कानों से सुनते ही जो दूसरों के कषायों को उबाल दे, उत्पन्न कर दे और जिससे पर का बुरा हो जाय ऐसे वचन असत्य हैं, कठोर हैं, कानों से सुनते ही सुनने वाले के

चित्त में कषाय भाव को उत्पन्न करते हैं, इससे स्व और पर दोनों का बुरा होता है। ये वचन पापास्रव के कारण होते हैं। एक नीति काव्य में कहा है कि वचने का दरिद्रता। वचन बोलने में क्या दरिद्रता करनी? बुरा न बोले, भला ही बोल दिया तो आपका नुकसान क्या हुआ? बल्कि हित हुआ। धर्ममार्ग में रोड़ा अटकाने वाला यह असत्य वचन है। असत्य वचनों से स्वयं का भी अपवाद है और जिसके सम्बन्ध में बोला जाय उसका भी अपवाद है। जो बात व्यर्थ की है, अनर्थ की है, दुरर्थ की है वह तो विडम्बना ही है। अपने आपको इतना संयत वृत्ति में नियमित रखना चाहिए कि कभी किसी उद्वेग का सामना न करना पड़े। कोई लेख लिखे कुछ उपदेश करे, कहीं बयान दे, कहीं समूह में समाज में कुछ बोलचाल करे तो वहाँ जो कम बोलने की नीति अपनाता है वह बहुत ही आपदाओं से बच जाता है। ही बहुत-बहुत बोलना भी एक दोष बता दिया गया है। जो अत्यन्त अधिक बोलता रहता है उसके वचनों का संतुलन नहीं रह सकता है, क्योंकि बहुत बोले तो उसमें कभी कुछ भी वचन निकल सकते हैं, वे वचन फिर पीछे अपने शल्य के लिए बन जायेंगे। जो वचन असन्मार्ग का उपदेश करते हैं वे वचन पापों का ही आस्रव करते हैं।

असन्मार्ग के भाव और वचनों से पाप का आस्रव—भैया ! लोक में अनेक पापी जीवों को फलते फूलते सुखी होता हुआ देखकर चित्त में कमजोरी न लाना चाहिए। यह तो एक संसार का तरीका है, नमूना है। जिन वचनों से असत्यमार्ग का पोषण हो, वस्तुस्वरूप के विरुद्ध समर्थन हो वे सब असन्मार्ग के उपदेशक वचन हैं, इससे पाप का ही आस्रव होता है असत्य और कठोर वचन पापों का ही बंध किया करते हैं। कठोर वचन बोलने के लिए बहुत समय पहिले से संक्लेश परिणाम करना होता है और फिर कठोर वचन बोलकर यह बोलने वाला भी तो सुख शान्ति के वातावरण में नहीं ठहर सकता। आजकल अन्तर्राष्ट्र में अथवा घर में, देश में, समाज में जितने विवाद कलह होते हैं उनमें प्रायः करके कठोर वचन बोलने का भाग बहुत अधिक रहता है। 90-95 प्रतिशत लड़ाईयाँ तो एक कठोर वचन बोलने के कारण बन जाती हैं। तो यों कठोर शब्द का प्रयोग भी पाप कर्मों का आस्रव कराता है ऐसे वचन पापास्रव के ही कारण हैं। सो हे भव्य जीवों ! इन असत्य वचनों को परित्याग करो। जो सत्य वचन हैं उनका आश्रय करो उन्हें ही बोलो। और उस ही नीति का अनुकरण करके अपनी प्रवृत्ति रक्खो।

मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति के निषेध का अनुरोध—संसार में कोई जीव मेरा सहायक न तो है और न होगा। सब कुछ हमें अपने ही परिणाम संभालकर अपना योग्य काम करना है यों अपने मन को, वचन को, खोटे विषयों में प्रयुक्त न करना और तत्त्वचिन्तन में इनका उपयोग करना यह ही एक कर्तव्य है, इससे ही आस्रव भाव से हट सकते हैं। आस्रव तत्त्व हेय है, जन्मजाल में रुलाने वाला है, इससे छुटकारा पाने में ही अपना भला है। उसका उपाय अपने सहज स्वरूप की दृष्टि करना और ऐसा ही अपने को मानना है।

श्लोक-175

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम्।
संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी॥175॥

कायसंयम से शुभास्रव—भली प्रकार गुप्त रूप किया हुए अर्थात् अपने वशीभूत किए हुए शरीर से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से ये संयमी मुनि शुभ कर्मों का संयम करते हैं। इससे पहिले छंद में वचनयोग द्वारा शुभास्रव का वर्णन किया था। अब यहाँ काययोग से पुण्यास्रव होने का वर्णन किया जा रहा है। कायगुप्ति से अथवा कायोत्सर्ग से अथवा शुभकाय की प्रवृत्ति से उत्पन्न जो योग होता है उस स्थिति में जो राग रहता है उसके कारण पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है। कायगुप्ति और कायोत्सर्ग में साधारण सा अन्तर है। कायगुप्ति का अर्थ है काय से मिथ्यात्व का त्याग करना, काय की ओर लगाव और झुकाव न रहने देना ये दोनों पुण्यास्रव के काययोग के प्रसंग में उत्कृष्ट साधन हैं।

शुभकाययोग से शुभास्रव—तीर्थयात्रा अथवा दूसरों की वैयावृत्ति के उपाय से भी शुभास्रव होता है। मोही जीवों को चूँकि पुण्य के फल में रुचि है और मोही पुरुषों का ही आधिक्य है लोक में, उनकी रुचि के अनुसार पुण्य के आस्रव को भला माना जाता है और किसी हद तक यह बात कुछ ठीक यों मानी जा सकती है कि जैसे दो पुरुष किसी पुरुष की प्रतीक्षा में हों, प्रतीक्षा कहते हैं बाट जोहने को, आने की प्रतीक्षा कर रहे हों, लेकिन उनमें से एक पुरुष को पेड़ की छाया के नीचे बैठकर प्रतीक्षा कर रहा हो और एक पुरुष कड़ी धूप में खड़ा होकर प्रतीक्षा कर रहा हो तो प्रतीक्षक यद्यपि दोनों हैं, किन्तु उनकी वर्तमान स्थिति में अन्तर है। छाया में बैठकर किसी की बाट जोहने वाला कम संक्लेश में है और धूप में खड़ा होकर किसी की बाट जोहने वाला बड़े संक्लेश में है। यों ही जिसके पुण्य का उदय है, पुण्यवान् जीव है, पुण्यफल भोगते हुए वह पुरुष तो उस प्रतीक्षक की तरह है जो छाया में बैठा हुआ है और पाप-उदय वाला पापी जीव की कोटि उस प्रतीक्षक जैसी है जो धूप में खड़ा हुआ प्रतीक्षा कर रहा है। ऐसी स्थिति में इस संतप्त पुरुष के पुण्य का आस्रव तो क्या होगा और पाप के ही आस्रव होते हैं जिससे परम्परा आगे की ओर बिगड़ती है।

अन्तस्तत्त्व के रुचिया की दुःख सुख दोनों में उपेक्षा—जिसको योग्य साधन मिले हैं उसे यह अवसर है कि वह कुछ धर्मकार्यों में अपनी प्रगति और प्रवेश बना ले। यों इस दृष्टि से पुण्यास्रव पापास्रव की अपेक्षा भला है, किन्तु जिसे एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के विकास की ही रुचि है ऐसे पुरुष को अन्य और कुछ नहीं सुहाता। केवल एक शुद्ध अन्तस्तत्त्व का ही दर्शन सुहाता है। वह पुण्यास्रव को और पापास्रव को हेय मानता है। यहाँ इस ओर से देखिये—संसार में जीवों को सुख और दुःख इन दो का भोग लगा हुआ है। कोई जीव सुख

भोगते हैं और कोई जीव दुःख भोगते हैं वह दुःख भी क्या है और यह सुख भी क्या है? दुःख—वह है जहाँ इन्द्रियों को बात भली न लगे। जैसे अनिष्ट रस खाना ही पड़े, अनिष्ट रूप देखना ही पड़े, अनिष्ट गंध सूँघना ही पड़े, अनिष्ट स्पर्श करना ही पड़े ऐसी स्थिति में इस जीव के दुःख उत्पन्न होता है और सुख क्या है? जहाँ इन्द्रियों को सुहावना लग जाय। सुन्दररूप इसे सुहावना लगता है, ऐसी स्थिति में इसे सुख होता है, किन्तु कुछ स्वरूप की ओर दृष्टि डालें तो स्वरूप के समक्ष सुख दुःख ये दोनों परिणामन विकार, परभाव है, क्लेशरूप हैं, इस कारण दोनों हेय हैं, दोनों के कारण हेय हैं।

सुख दुःख में, पुण्यपाप में, शुभ अशुभ भाव में समानता और कर्तव्य—विकार होने के कारण जितना गंदा परिणाम दुःख भोगने का है उतना ही गंदा बल्कि यों कह लीजिए कि उससे भी अधिक गंदा इन्द्रियजन्य सुख भोगने का परिणाम है। दुःख आये तो उन दुःखों को भोगता है, सहता है, एक तो इस जीव के अन्तर का यह परिणाम और इन्द्रियजन्य सुखों को ललचाता है, उन सुखों की ओर झुकता है, उनमें अपना उपयोग फँसाये है एक उसका यह विकार परिणाम। कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उस दुःख भोगने की अपेक्षा सुख भोगने का परिणाम अधिक गंदा होता है विकारों की दृष्टि से देखो, तब ऐसा दुःख मिला, किस निमित्त से पापों का उदय आया, अतएव और ऐसा इन्द्रियजन्य सुख मिला किस निमित्त से, पुण्य का उदय आया किस निमित्त से? तब ये पुण्य और पाप दोनों भी सुख दुःख के सामान विकार हैं और गंदे हैं। यहाँ तक तो रही पुण्यकर्म और पापकर्म की बात। अब आगे और चलिए ये पुण्यकर्म व पापकर्म बँधे कैसे हैं? इस जीव ने शुभ व अशुभ परिणाम किया उससे। तो जब पुण्य और पाप दोनों विकार और बन्धन की दृष्टि से समान हैं तो इनके कारणभूत ये शुभ भाव और अशुभ भाव भी समान हैं। यह समता तत्त्वज्ञानी पुरुष के उत्पन्न होती है। इस श्लोक में शुभकर्म का आस्रव किस काययोग से होता है? इसका इसमें वर्णन चल रहा है। कायगुप्ति के कारण, कायोत्सर्ग के कारण जो स्थिति बनती है उस स्थिति में जो योग रहता है उस योग के निमित्त से पुण्य प्रकृतियों का आस्रव होता है।

श्लोक-176

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः।

शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम्॥176॥

आरम्भयोगों से पापास्रव—निरन्तर आरम्भ के योग से और जीवघातक व्यापारों से यह काययोग पापकर्म का संचय करता है अर्थात् अशुभ काययोग से अशुभास्रव होता है। यह अशुभ कामयोग है कि निरन्तर आरम्भ

आरम्भ में ही लगे रहें। जैसे किसी पुरुष के कितने ही अधिक मिल हैं, फैक्टरी हैं, दुकान हैं, अनेक काम हैं तो उन कामों में निरन्तर चित्त बना रहता है। जैसे कि लोग कहते हैं कि हमको तो जरा भी फुरसत नहीं मिलती, इसके बाद यह इसके बाद यह। तो जैसे निरन्तर आरम्भ के ही कार्य लगे हैं उनमें जो शरीर की प्रवृत्तियाँ होती हैं उसके निमित्त से जो योग होता है वह पापास्रव का कारण बनता है सूत्रजी में तो बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के परिणाम को अत्यन्त अधिक बुरा कहा है। अधिक आरम्भ की परिस्थिति में इस जीव को अपने आत्मा की सुध होने का मौका कम मिलता है अथवा नहीं मिलता है।

रौद्रध्यानों से विशेषतया पापास्रव—दुःख भोगने की स्थिति में या यों कहो कि आर्तध्यान की स्थिति में तो स्वरूप की सुध रह भी सकती है, पर विषय-संरक्षण में आनन्द मानना ऐसी तीव्र रुचि में आत्मा की सुध का मौका नहीं रहता। इसी विश्लेषण को स्पष्ट करने वाला यह प्रतिपादन है कि आर्तध्यान तो छठे गुणस्थान तक रह सकता है, किन्तु रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक ही रह पाता है। और उसमें भी कुछ विशेषता से विचार करे तो रौद्रध्यान भली प्रकार तो मिथ्यात्व अवस्था में रहता है। सम्यक्त्व जगने पर रौद्रध्यान का कुछ झुकाव नहीं है, किन्तु हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह सम्बन्धी जो प्रवृत्तियाँ थी उन साधनों में ही रहने के कारण गृहीदशा में उनसे विराम नहीं मिला है अतएव रौद्रध्यान विषय है, किन्तु यह आर्तध्यान तो स्पष्ट दिखता है किसी धर्मी का वियोग हो, किसी साधु का मरण हो, कोई सुयोग्य शिष्य अलग हो रहा हो, अनेक ऐसी स्थितियाँ आती हैं तो उनके चित्त को खेद पहुँचता है। यद्यपि साधुजनों का खेद देर तक नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत गुणस्थान बराबर बदलता रहा करता है। छठे गुणस्थान की स्थिति दो चार मिनट भी नहीं रहती, इसके भीतर ही 7 वाँ गुणस्थान भी हो जाता है।

प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरत का पुनः पुनः परिवर्तन—प्रमत्तविरत व अप्रमत्तरत गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त में बदलते रहते हैं। इससे शुद्ध वृत्ति की भी परख हो जाती है। जो साधु लगातार अनेक मिनट अथवा घंटा किसी प्रमाद प्रमाद में ही लग रहा है, अन्तर में अप्रमत्त दशा नहीं आती है तो उसका वह प्रमाद छठे गुणस्थान में न रहकर नीचे गुणस्थान का बन जायेगा। यह परिणाम अन्तः प्रकट है। कोई साधु बन गया, नग्न दिगम्बर हो जाने पर भी अथवा उसे छठा गुणस्थान भी हो जाय, इतने पर भी यह सम्भव है तो वह मुनि, पर गुणस्थान 5 वां हो जाय। है वह मुनि पर गुणस्थान चौथा तीसरा दूसरा पहिला हो जाय। यह परिणाम की बात है। यद्यपि उस साधु के भीतर मिथ्यात्व की अवस्था आने पर भी बाहर में कुछ अन्तर नहीं दिखता, वही समिति, वही व्रत, वही सब कुछ, लेकिन यह तो परिणामों की बात है। यों प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत बराबर बदलते रहते हैं। ऊँचा परिणाम होना, हल्का परिणाम होना, ये दोनों परिवर्तन होते रहते हैं।

रौद्रध्यान को विपदा मानने का पुरुषार्थ—अब समझ लीजिए कि आर्तध्यान से उतनी खराबी नहीं हो पाती जितनी की रौद्रध्यान से पहुँचती है। हम आप इसमें बड़ी विपदा समझे कि हमारा उपयोग किसी विषय

में रमे, आसक्त रहे, उसकी ओर ही रुचि जगे और सबसे निर्मल विविक्त चैतन्यस्वरूप की हम सुध न ले सकें, ऐसी स्थिति बने उसको बड़ी विपदा समझना चाहिए। वह हर्ष मानने की स्थिति नहीं है जो पुरुष संसार में रहकर भी सुख दुःख से उपेक्षा करता है, निर्लेप रहता है उसका बचाव होता है। जैसे नाव पानी में रहती है। पानी में रहकर भी नाव के भीतर चूँकि पानी नहीं है इसलिए तिर जाती है। पानी में नाव के रहने से कुछ बिगाड़ नहीं है, पर पानी नाव में आ जाय तो नाव डूब जाती है, उससे बिगाड़ है। इसी प्रकार हम समागम के बीच रहते है संसार में रहते हैं उससे कुछ बिगाड़ नहीं है किन्तु हममें संसार बसें, हम संसार की वस्तुओं को बसायें अपने उपयोग में तो उससे हमारा बिगाड़ है।

सांसारिक सुख की परिस्थिति में बिगाड़—हम दुःख पाने को अहित मानते हैं और सुख पाने को भला मानते हैं, इस मान्यता में शोधन करना होगा। कदाचित् दुःख की स्थिति आये, वह मेरा उतना बिगाड़ न कर सकेगी जितना कि सुख की स्थिति आने पर उसे सुख में मग्न हो जाय तो उससे बिगाड़ होगा। तो जब कोई जीव निरन्तर आरम्भ कर रहा है, उसे प्रभुभक्ति का, गुरुसेवा का कुछ भी समय नहीं प्राप्त है और रात दिन उन्हीं चिन्ताओं में आरम्भ में बसता है तो उसके पापकर्म बँधते हैं।

खोटे व्यापारों में पापास्रव—ऐसे ही जीव खोटे कार्यों से, खोटे व्यापारों से पाप का बंध करता है। पहिले समय में जैन समाज में यह प्रथा थी कि जूतों का, लोहे का ऐसे ही और अन्य खोटा व्यापार नहीं करते थे, इस बात को यदि विशेषता से बताया जाय तो लोग कहेंगे कि यों तो किसी का भी काम न चलेगा। लेकिन जो बात जैसी है वह बात वैसी रहेगी ही। गृहस्थजन यह विवेक रक्खें कि जिससे जंतुओं का घात होता है ऐसे व्यापारों से अलग रहें और प्रत्येक व्यापारों में हम यह सावधानी बनाएँ कि हमसे प्राणघात न हो। जंतुओं का घात करने वाले व्यापारों से भी पापकर्मों का आस्रव होता है।

आस्रव निरोध के अर्थ यत्न—यह आस्रव दुःखदायी है। आस्रव दुःख कार घनेरे। बुधवंत तिन्हें निरवेरें, यह विकाररूप भाव होने का ही नाम आस्रव है। ये विकार स्वयं दुःखरूप हैं, इसमें दुःखरूप फल मिलेगा और यह दुःखपूर्वक ही उत्पन्न किया गया है। इस आस्रव से विविक्त अपने सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपकी दृष्टि करना, यह है एक कर्तव्य। इन सब बातों के लिए तब एक निर्णय रक्खें कि ज्ञान की वृद्धि करना है। ज्ञान बढ़ाने में जो आनन्द होता है, सुखानुभूति होती है वह सुख इन विषय भोगों के सुख से विलक्षण है। किसी तत्त्व की जिज्ञासा हो और उसका समाधान मिल जाय उसका बड़ा आनन्द होता है।

ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति पर दृष्टान्त—अभी किसी बालक से सवाल पूछें—बताओ 7 पंजे कितने होते हैं तो वह बालक उसे सुनकर पहिले तो कुछ विह्वल सा हो जायेगा लेकिन जब वह बता देता है पहाड़ा पढ़कर 7 पंजे 35 तो वह कितना खुश होता है? उसको यह खुशी किस बात की हुई? उसे मिठाई नहीं खिलाई जा रही है, कुछ भी तो नहीं खिलाया-पिलाया जा रहा है। जो रोकड़ बही बनाता है, हिसाब लगाते-लगाते अन्त

में दो आने का फर्क रह गया, ठीक हिसाब नहीं मिलता है तो वह दो आने के घाटे में कितना तो दिमाग दौड़ाता है, कितना-कितना परेशान होता है? उस दो आने का जब तक सही हिसाब नहीं मिल जाता तब तक उसे सन्तोष न होता। उस दो आने के पीछे वह रात भर जग भी सकता है और कहो 4-6 आने की बिजली भी खर्च कर दे और जब वह फर्क मिल जाता है तब उसकी मुद्रा देखो। तो ज्ञान प्राप्त होने का एक विचित्र ही आनन्द होता है।

ज्ञानार्जन का कर्तव्य—संसार के जितने भी समागम हैं, इन समागमों में से कोई भी समागम हम आपके लिए हितकारी न होगा, कोई भी साथ न निभायेगा, किन्तु अपने स्वरूप का ज्ञान बने तो इस स्वरूप को निरखकर जहाँ चाहे किसी भी जगह किसी भी परिस्थिति में हम प्रसन्न रह सकते हैं, निर्मल रह सकते हैं, और इन उपायों से किसी समय सर्व कर्मों से, बन्धनों से, शरीरबन्धन से सबसे छूटकर हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। तो कर्तव्य ज्ञानवृद्धि का होना चाहिए। ज्ञान के सामने धन का महत्व न बनायें। जो पुरुष धन को ही महत्व देता है और ज्ञान का कुछ महत्व नहीं समझता, उसकी तो दयनीय स्थिति है। सबसे अधिक महत्व ज्ञान का है। अपने जीवन में धनार्जन का भी उतना ध्यान न रखकर ज्ञानार्जन का ही विशेष ध्यान रखें। और देखिये—ज्ञानार्जन का उद्यम करें तो नियम से ज्ञान मिलेगा। उस ज्ञान से आनन्द मिलेगा।

श्लोक-177

कषायाः क्रोधाद्याः स्मर सहचराः पञ्चविषयाः। प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसि काय इति च॥
दुरन्ते दुध्योर्न विरतिविरहश्चेति नियतम्। स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम्॥177॥

मिथ्यात्व का महापाप—जीवों का यह अशुभ परिणाम नियम से पाप का ही आस्रव कराता है। उन अशुभ परिणामों में प्रधान तो है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह ये एकार्थवाचक है। कोई पुरुष ऐसी शंका करते हैं कि जिन्हें मालूम है कि जल में जीव होते हैं वे जल छानकर न पियें तो उन्हें पाप लगेगा और जिन्हें पता ही नहीं है कि जल में जीव होते हैं और वे अनछना ही पियें तो उनको पाप का क्या काम? ऐसे ही सभी प्रसंगों में समझ लीजिए, लेकिन तत्त्व की बात यह है कि मन, वचन, काय की बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तियों से जो पाप लगता है उससे भी अधिक पाप अज्ञान का होता है। भला ज्ञानस्वरूप यह आत्मा जिसको ज्ञानस्वरूप से विदित न हो, इसको कितना अंधेर खाता कहा जाय, अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह यह तो महापाप है।

अज्ञान में क्लेश की विशेषता—जो अज्ञान मोह पाप में बस रहा हो उसके तो पाप का प्रतिसमय आस्रव बंध चल ही रहा है। जैसे पीछे या अगल-बगल कोई आग का अंगारा पड़ा है जो सामने नहीं है, जो हमें दिखता नहीं है। कोई पुरुष मुझे धक्का दे या मैं ही अपने आप पैर बदलूँ और आग पर रख लूँ तो उस समय मैं कितना जलूँगा और एक हमें पता है कि यह सामने आग पडी है और कोई धक्का दे तो हमें आगे बढ़ना पड़ता है और बढ़कर हम उस आग पर से ही जा रहे हैं उस समय देख लो हम कितना बढ़ते हैं? जानी हुई स्थिति में हम कम जलेंगे और अनजानी स्थिति में आग पर पैर रखने से हम अधिक जलेंगे। विशेष क्या कहें, इतना ही समझ लीजिए कि मोह का पाप सब पापों से बुरा पाप है।

मिथ्यात्व से पापास्रव और उसके निराकरण का यत्न—प्रथम तो इस जीव को मिथ्यात्व का ही अशुभ परिणाम लगा है। उस परिणाम में इस जीव के पापकर्मों का आस्रव हो रहा है। अन्य जितने भी पाप होते हैं वे सब पाप इस मोहराज सैन पर होते हैं। जहाँ मोह का क्षय हो गया वहाँ अन्य पाप अपनी स्थिति नहीं बना सकते, वे दृढ़ नहीं हो सकते, इस कारण धर्मपालन की दशा में सर्वप्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हमारा मोह भाव टूटे और हम आत्मा के यथार्थस्वरूप का दर्शन करें। इसके लिए बुद्धिपूर्वक उपाय तो ज्ञानार्जन का है। ज्ञानार्जन में भी गुरु मुख से ज्ञानार्जन का बहुत महत्व है, वह भी करें और अपने आप स्वाध्याय आदिक करके भी ज्ञानार्जन करें। अपने जीवन में ज्ञान के अर्जन की धुन बनाना चाहिए और उस ज्ञान के अर्जन से अपने आपको प्रसन्न रखना चाहिए, यह प्रोग्राम हो। बाकी जो कुछ होता है, जैसी स्थिति है उसमें गुजारा और व्यवस्था करने की अपनी कला बना लेनी चाहिए।

पापास्रवों में मुख्य मिथ्यात्व—जिन जीवों के विकार परिणाम के द्वारा पापकर्मों का बन्धन होता है उन अशुभ परिणाम के वर्णन में मिथ्यात्व नामक अशुभ परिणाम की बात चल रही है। मिथ्यात्व भाव वहाँ है जहाँ अनन्ताभाव वाले परपदार्थों के साथ अपने जुड़ाव की कल्पनाएँ हैं। मिथ्यात्व भाव वहाँ है जहाँ वस्तु के यथार्थस्वरूप का भान नहीं है और इसी कारण परवस्तुओं में जो अन्तः आकर्षण चलता है इस मिथ्यात्व भाव के दो प्रकट अंग हो गए हैं—अहंकार और ममकार। अनन्त भिन्न वस्तु में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार का भाव करना अहंकार है और 'यह मेरा है' इस प्रकार का आशय रखना ममकार है। संसार का मूल मिथ्यात्व है। इस जीव का मूल बैरी मिथ्यात्व है, जिस परिणाम के वश होकर अनादि काल से यह जीव नाना कुजन्मों में जन्म लेता चला आया है। मिथ्यात्व भाव के दूर हुए बिना आत्मकल्याण के लिए कोई पथ नहीं मिल सकता, यह महापाप है और पापों का आस्रव करने वाला है।

क्रोधकषाय से आस्रव—पापास्रव के कारण व पापास्रव है मोह के बाद क्रोधादिक कषायें। कषाय शब्द बना है कष् धातु से। जो आत्मा को कसे उसे कषाय कहते हैं। कसने में क्लेश है। जैसे कोई मनुष्य अथवा पशु को रस्सी आदिक से कसे तो वह पीड़ा का रूप है। यह जीव जिन भावों से कसा जाता है दुःख रूप होता है वह भाव कषाय है। चार प्रकार की हैं वे क्रोध, मान, माया, लोभा। जब इनके स्वरूप पर दृष्टि करें तो

सुविदित हो जायेगा कि इस जीव की ये कषायें ही तो बैरी हैं। आनन्द में बाधा डालने वाले ये कषाय भाव ही तो हैं। क्रोध हो तब इस जीव को कुछ सुध नहीं रहती है, रहे सहे गुण भी जल जाते हैं। कोई जीव बड़ा उपकारी है, पर वह क्रोध करे तो दूसरों की दृष्टि में उसके सारे गुण धुल जाते हैं याने उन सारे गुणों पर पानी फिर जाता है। क्रोध करने से उसके सारे गुण ओझल हो जाते हैं। क्रोध को चांडाल की उपमा दी है। अब समझ लीजिए कि इस क्रोध के द्वारा हम अपना कितना अनर्थ कर डालते हैं? क्रोध से हमारा जो अनर्थ होता है उस समय हमें ज्ञात नहीं रहता, पर पता पड़ जाता है कुछ समय निकलने के बाद कि मैंने गलती की थी और इस गलती के फल में मुझे यह अनर्थ भोगना पड़ा।

मनकषाय से आस्रव—अहंकार कितनी व्यर्थ की सी चीज है। किसे अहंकार दिखाते हो? यहाँ कोई तुम्हारा प्रभु है क्या? कोई रक्षा करने वाला भी है क्या? किसे अपनी चतुराई, किसे अपना अस्तित्व दिखाना चाहते हो? अरे ये सभी प्राणी हम ही जैसे तो भूले-भटके संसार में रूलने वाले आशय मलिन, दीन स्वयं हैं वे। उनमें अपना क्या मान रखना चाहते हो? जो पुरुष अहंकार के वश है और इस कारण उसके अंतरंग में विह्वलता के क्षोभ का जो परिणाम हुआ है उसे वही भोगता है। मान में भी कोई सार की बात नहीं है और अचरज की बात तो देखो—हम तो मान करते हैं इसलिए कि दूसरों की दृष्टि में हम उच्च कहलाने लगे। फल यह होता है कि सब लोग हमें अधम समझने लगते हैं। कितना अँधेरा है? मान तो करने चला यह जीव बड़प्पन पाने के लिए, किन्तु उस प्रवृत्ति में फल मिला यह कि लोग मुझे अधम मूर्ख समझने लगे।

मायाकषाय से आस्रव—मायाचार का परिणाम तो एक शल्य बन जाता है। मायाचार को शल्य कहा है। जैसे पैर में काँटा लग जाय तो कितनी वेदना रहती है, चलते फिरते बैठते दर्द होता रहता है, तो जैसे काँटा चुभा हो तो वह शल्य बन जाता है, इसी प्रकार मायाचार का परिणाम इस जीव को शल्य बन जाता है। कुछ घटना हो तो अर्थ अपने पर लगाइयेगा। बहुत से मायाचारी जीव तो अपनी ही कमजोरी और शल्य के कारण खुद अपना मायाचार प्रकट कर देते हैं और लोग समझ जाते हैं। मायाचार से भी इस जीव को दुःख ही है। यह जीव को कसने वाली ही कषाय है।

लोभकषाय से आस्रव—लोभ का रंग तो बहुत विचित्र है। कैसा रंग फैल गया है इस जीव में? रग-रग में सर्वप्रदेशों में सर्वगुणों पर आवरण डालते हुए यह राग यह तृष्णा लोभ कैसा इस जीव पर छाया है? है कुछ नहीं इसका, मरने पर तो प्रकट ही सब जानते हैं कि कुछ साथ नहीं ले जाता, लेकिन इसे धैर्य कहाँ? लोभकषाय का रंग जिस पर चढ़ता है उसके गम्भीरता कैसे हो सकती है? तो ये क्रोधादिक कषायें पापकर्म का आस्रव करती हैं।

विषय-अविरति से आस्रव—इसके बाद तीसरे नम्बर पर पञ्चेन्द्रियों के विषयों को रख लीजिए। ये इन्द्रियों के पाँचों विषय कामदेव के सहचर हैं। सहचर उसे कहते हैं जो साथ-साथ चले, पीछे न चलें। पञ्चेन्द्रियों के विषय

ये काम के सहचर हैं। अच्छे शब्द सुनने से, राग भरे शब्द सुनने से काम को ही तो प्रोत्साहन मिलता है। सुन्दररूप निरखने से काम को ही तो प्रोत्साहन मिला। अच्छे सुगंधित वातावरण में रहना, रसीले गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन करने से, उस ओर आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति होने से इस स्मरको ही तो सहयोग मिला। स्पर्श का स्पर्शन करने से इस स्मर की ही तो जागृति हुई। ये 5 विषय काम के सहचर हैं। इस कारण योगी साधुसंत इन पंच-विषयों से विरक्त रहते हैं। ये पञ्चेन्द्रिय के विषय भी पाप का आस्रव कराते हैं।

प्रमाद से आस्रव—चौथी बात निरखिये प्रमाद की। प्रमाद 15 प्रकार के होते हैं। जिन प्रमादों से यह जीव प्रमत्त कहलाता है। चार तो विकथार्यें हैं। राजाओं की कथा करना, अमुक राजा यों, राजाओं का कथन करना, यह राजकथा नाम का प्रमाद है। भोजन की कथा करना, कहो जी आज तुम्हारा आहार कैसा रहा, क्या खाया, आज तो मेरा आहार ऐसा ही रूखा-सूखा रहा अथवा आज बहुत अच्छा रहा, किसी प्रकार की चर्चायें करना ये सब भोजन कथाएँ हैं। यह प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ मोक्षमार्ग में अनुत्साह होना है। जिस जीव को मोक्षमार्ग में उत्साह नहीं है वही तो बेकार है और जो बेकार होगा वही गप्पसप्प लगायेगा। तो मोक्षमार्ग की ओर से बेकार पुरुष इन कथाओं को किया करते हैं। एक देशकथा है। किस देश में कैसा रिवाज है, कैसा श्रृंगार है, कैसे लोग रहते हैं, देश की व्यवस्थाएँ प्रबंध और यहाँ की विशेषताओं का वर्णन करना यह देशकथा है। यह भी प्रमाद है। एक स्त्रीकथा है। स्त्री सम्बन्धी कथा करना, अमुक स्त्री यों है, अमुक स्त्री यों है ये चार विकथाएँ है, प्रमाद हैं। 4 कषार्यें भी प्रमाद हैं और 5 इन्द्रियों के विषय प्रमाद हैं। तथा स्नेह और निद्रा, इस प्रकार यह 15 प्रमाद हुए हैं। प्रमाद के परिणाम पापों का आस्रव करते हैं।

योग से आस्रव—योग तो आस्रव का मूल है काय, वचन और मन का योग। काय की प्रवृत्ति करना काययोग है। इस काय को इष्टविषयसाधन के कार्यों में लगाना, इससे पापों का आस्रव होता है। वचन खोटे बोलना अहितकर, अप्रमाणिक वचनों से पाप का आस्रव होता है। यों ही मन की संकल्पना, कल्पनायें बढ़ाने से भी पापास्रव होता है। मन का विषय काम है और लोकेषणा आदिक भी हैं, नाना विषय है। मन के विषय नियत नहीं हैं। जैसे इन्द्रिय का विषय हम नियत कह डालते हैं ना, स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है, रसनाइन्द्रिय का विषय रस है, घ्राण का गंध, चक्षु का रूप और श्रोत्र का शब्द है। यों मन का क्या एक विषय है? नियत नहीं कर सकते। उसकी चाल तो बहुत दूर-दूर तक चलती है। स्मर का दूसरा नाम है मनोज। यह कामविकार मन से उत्पन्न होता है। जैसे भूख का रोग है। यह केवल कल्पनाओं से सम्बन्ध नहीं रखता। पेट खूब भरा हुआ हो और सामने बहुत बढ़िया फूली हुई रोटी उतर रही हो तो यह कैसे डालें? पेट में। कुछ कल्पना से बात बनती है क्या? कल्पना किया कि खूब भूख लगी है। तो यों कल्पनाएँ करने भर से तो पेट में रोटियाँ न समा जायेंगी, ऐसे ही शरीर के अन्दर रोग है, इस प्रकार रोग और भूख प्यास की तरह यह नहीं है कि जिसका समय नियत हो, कोई घटना नियत हो कि ऐसे समय पर ही कामविकार हुआ करता है। वह तो

मनोज है। जब वह मन उद्दण्ड हुआ और तभी मन की कल्पनाएँ जगी, लो मनोज हो गया। यह भी पाप का आस्रव करता है।

दुर्ध्यान से आस्रव—इससे आगे निरखिये दुर्ध्यान को। 4 प्रकार के आर्तध्यान और चार प्रकार के रौद्रध्यान ये पाप का आस्रव करने वाले है। आर्तध्यान में क्लेश पड़ा हुआ है और रौद्रध्यान में मौज माना जाता है। इन दोनों प्रकार के ध्यानों में आर्त और रौद्रध्यान में पाप के आस्रव का हेतु चना पाया जाता है। अरतिविरति, व्रत का त्याग। कोई मनचले लोग उस प्रसंग में जब कि कोई उपदेश दे रहा हो, देखिये आप लोग कुछ त्याग कीजिए तो कोई यह कह सकेगा कि हाँ साहब हम त्याग करते हैं। अच्छा करो त्याग। काहे का? हम त्याग का त्याग करते हैं, तो व्रतों का वियोग होना, यह भी पाप का आस्रव कराने वाला है। इन परिणामों का फल पापबंध है। और इसके कारण भावीकाल में भी इसे क्लेश का ही सामना करना पड़ता है। यद्यपि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आस्रवरहित है अब भी, संसार में रुलते हुए भी हम आप अपने आपके स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि हम आपका स्वरूप स्वभावतः अपने आपके अस्तित्व के कारण समस्तविकारों से हैं, केवल ज्ञानस्वरूप है तो भी अनादि कर्म के सम्बन्ध से यह मिथ्यात्व आदिक परिणामोंरूप परिणमता है, इस कारण यह प्राणी नवीन कर्मों का आस्रव करता रहता है।

कल्याणलाभ का पुरुषार्थ—जब यह जीव भेदविज्ञान के अभ्यास से उन मिथ्यात्व आदिक परिणामों से अपना विलगाव करे, स्वभाव का लगाव करे, अपने स्वरूप का ध्यान करे तो कर्मास्रव से रहित होता है। अलग शब्द कहाँ से लाया गया है? न लग इति अलग। लगे नहीं उसका नाम अलग है। अलग हो अर्थात् लगाव न रहे, इस प्रकार से बन जाये उसे कहते हैं अलगाव। लगाव किससे था? लगाव था इस जीव का आस्रव परिणामों से, उनका लगाव मिटे, उन भावों का अभाव हो तो इस जीव को कल्याणपना मिलता है। इस बात को समझने के लिए और इस कल्याण भावना के लिए आस्रव भावना का विचार संतजन किया करते हैं। यह आस्रव महादुःखमयी है। ये खोटे परिणाम ही मेरे वास्तविक बैरी हैं, उन बैर परिणामों से अपने को अलग हटा लेने में ही लाभ है।

मिलन का सदुपयोग—इस असार संसार में इस अशरण लोक में हम आप यदि आज इकट्ठे हो गए हैं। चाहे कोई परिवार के रूप में इकट्ठे हों और चाहे कुछ लोग समाज के रूप में इकट्ठे हों अथवा धर्मधर्मी गुरु शिष्य आदि के रूप में मिले हुए हम आपके इस मिलाप का वास्तविक फल यही है कि एक दूसरे को धर्म में स्थिर करें, धर्म से न डिगने दें, अधर्म से हटावें, ऐसी प्रवृत्ति बने तो यह समागम भी सफल है। चाहे परिजन परिवाररूप समागम हो वहाँ भी भाई भाई को, पिता पुत्र को, पति पत्नी को, पत्नी पति को, कोई भी किसी अपने सम्बन्धी को धर्म में लगाए, अपना ऐसा व्यवहार बनाये कि जिससे दूसरे भी शान्त सुखी रहें और धर्म का प्रकाश पाते रहें, ऐसा व्यवहार बन सके तो यह कुछ काम का है और केवल विवाद विषय कषायों का भोगना विषय कषायों की खुदगर्जी, इनमें ही समय बीता तो वह समय निष्फल है, बेकार है। काहे का मोह?

उस मिलन में तो और बुरा असर हुआ, एक दूसरे का दुःख कारण बना। कर्तव्य यह है कि हम अपने इस क्षणिक समागम से कोई तात्त्विक बात लें, अट्टसट्ट बातों में समय न गुजारें।

-संवर भावना-

श्लोक-178

सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः।

द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः॥178॥

संवर का स्वरूप—समस्त आस्रवों का निरोध होना उसे संवर कहते हैं। वह संवर दो प्रकार का है—द्रव्यसंवर और भाव संवर। द्रव्यसंवर नाम है कार्माणवर्गणा में मिथ्यात्व न आने देना। यह द्रव्यसंवर है। भावसंवर नाम है अपने परिणामों में विकार न आने देना। संवर की व्याख्या अध्यात्मसूत्र में यह कही है विकारानुत्पत्तिः संवरः। संवर के आगे भेद करते हैं द्रव्यसंवर, भावसंवर, तो जो भेद किये जाते हैं उन भेदों का जो एक मूल है वह स्वरूप दोनों भेदों में लेना चाहिए, तब ऐसा वह भेद है। जैसे जीव के दो भेद किए गए—एक संसारी और एक मुक्त। तो संसारी में केवल जीवपना घटित हुआ और मुक्तपना घटित हुआ तब तो वे जीव के भेद है। नहीं तो कोई कहने लगे उनके दो भेद हैं—एक संसारी और एक चौकी। ठीक रहा ना? यह तो अट्टसट्ट बोलना है। संसारी में जीवत्व है पर चौकी में कहाँ जीवत्व है। तो जिनके भेद किए जाते हैं उनका स्वरूप भेद में घटित होता है, तो संवर का स्वरूप है विकार नहीं आने देना। तो कार्माणवर्गणा में कर्मत्व का आना, यह एक विकार है कर्म का। कार्माण वर्गणा में उनका यह विकार नहीं आ सकता यही है द्रव्यसंवर और जीव परिणाम में जीव का विकार न आ सके, यही है भावसंवर। ये दोनों प्रकार के संवर ज्ञानी जीवों के रहा करते हैं।

जीव का परपरिणति पर अनधिकार—द्रव्यसंवर पर जीव का अधिकार नहीं है, आस्रव पर भी अधिकार नहीं है, द्रव्यकर्म के आस्रव पर संवर पर निर्जरा अथवा मोक्ष पर जीव का अधिकार नहीं है। जीव तो जो कुछ भी कर सकेगा, परिणाम सकेगा वह अपने ही प्रदेशों में अपनी ही शक्ति के परिणमन में परिणम सकेगा। तो जीव का पुरुषार्थ जीव का अधिकार अपने भाव बनाने में हैं। अपने भाव करने से अर्थात् अन्य पदार्थ में कुछ परिणति करने पर मेरा अधिकार नहीं है। यद्यपि यह बात अविनाभावरूप है कि जीव यदि शुद्धभाव करे तो कर्मों का संवर होगा ही, जीव अशुद्धभाव करे तो कर्मों का आस्रव होगा ही। ऐसा अविनाभाव रहा आये, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध रहा आये, फिर भी इस जीव का अधिकार परिणमन उस पदार्थ में नहीं है। जिसे यद्यपि रोज यह देखते हैं कि महिलाएँ रोटी यों बनाती हैं, सेका, बनाया, रखा, सब कुछ दिख रहा है, इतने पर भी महिला का अधिकार महिला के हाथ का कर्तव्य रोटी के सिकने का, बेलने का, बनाने का अधिकार नहीं है, किन्तु हो रहा है अविनाभूत सम्बन्ध है कोई भी पदार्थ अपना परिणमन अपने प्रदेशों से आगे नहीं

करता है। तब बतलावो उस महिला का कर्तव्य कितने तक है, बस जैसे हाथ चलते हैं उतने तक कर्तव्य है। उस प्रसंग में प्रत्येक वस्तु किस-किस प्रकार परिणमती है? यह सब वस्तु की बात है।

आत्मभावना व आत्मदया—जीव केवल अपने परिणामों की संभाल तक ही समर्थ है, इससे आगे जो कुछ होता है पर में वह सब निमित्तनैमित्तिक भाव की बात है। तब यही तो हुआ ना कि हमारी ही भावना संसार का नाश कर सकती है, हमारी ही भावना इस संसार को बढ़ा रही है। इस भावना के ही हम अधिकारी हैं, तब देखिए, जब केवल एक भावना करने मात्र से संसार का हो जाना, मोक्ष का हो जाना, इतने बड़े अन्तर वाले काम होते हैं तब हमारा क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम ऐसी भावना बनायें जिसके फल से संसार के संकटों से मुक्त हो सकें? हम ऐसी भावना की सृष्टि में लगें, वह भावना शुद्ध आशय बनाने से होती है। आशय की अशुद्धता तो खुद के लिए बिगाड़ की बात है। हम पर का कुछ नहीं करते, अपना अभिप्राय निर्मल रखने का यत्न करें यही अपने आप पर सच्ची दया है।

श्लोक-179

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः।

स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्द्धृतकल्मषैः॥179॥

कर्म की क्लेशहेतुता—द्रव्यकर्म के संवर का स्वरूप—इस जीव के साथ क्रोधादिक कषायों के कारण, मन, वचन, काय के योग के कारण बहुत सा विरुद्ध वातावरण लगा हुआ है, अर्थात् कर्मों का संग लगा हुआ है। ये कर्म इस जीव को बड़े-बड़े क्लेशों के कारण बनते हैं। आदिनाथ भगवान जो ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध हुए, युग के अन्त में जो जनता के आधार थे और इस भरतरक्षेत्र में 18 कोड़ाकोड़ी सागर के बाद धर्म के प्रथम नेता हुए वे मुनि हुए। मुनिपद धारण करने के बाद 6 महीने तक लगातार चर्या को रोज जाते रहे किन्तु अन्न जल का सुयोग न मिला। ऐसे ही बड़े-बड़े महापुरुष नारायण बलभद्रों की भी ऐसी ही कहानियाँ भरी पडी हुई हैं। ये कर्म इस जीव को बड़े क्लेश के कारण हैं। इस समय भी देख लो बड़ा घर है पर उस परिवार के लड़के या अन्य सम्बन्धी किसी भी विरुद्ध तरह के उदय वाले हैं। यहाँ भी बड़ी विचित्रताएँ नजर आती हैं। उन कर्मों के रोकने का कुछ उपाय किया गया तो तो भला है, नहीं तो कर्मों के प्रेरे ये जीव ऐसे ही संसार में भटकते रहेंगे।

द्रव्यकर्म के संवर का स्वरूप—इस प्रकरण में उन कर्मों के रोकने के उपाय और भेद-प्रभेद बताये जा रहे हैं। कर्मों के रुकने का नाम संवर है। किसी भी प्रकार का बिगाड़ न हो सके—उसका नाम संवर है। वह

संवर दो तरह का है—एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर। उनमें से इस छन्द में द्रव्य संवर का लक्षण बताया है। जीव में दो प्रकार के बिगाड़ आ रहे हैं—एक तो अपने परिणाम अशुद्ध बनाना यह है भाव बिगाड़ और इस विकार भाव का निमित्त पाकर जो कर्म पुद्गल का आना बनता है वह है द्रव्य बिगाड़। द्रव्यकर्म का आना द्रव्यास्रव है और अपने बुरे भावों का बनना भावास्रव है। भावास्रव के रुकने का नाम भावसंवर है और द्रव्यास्रव के रुकने का नाम द्रव्यसंवर है। तपस्वी मुनि संतों की कर्मरूपी पुद्गल के ग्रहण करने का निरोध हो जाय वह द्रव्य संवर है।

कर्मों का स्वरूप—भैया ! कर्मों के सम्बन्ध में बातें तो बहुत से लोग करते हैं, हर एक मनुष्य के जुदे-जुदे कर्म है। सब अपने कर्मों से दुःखी सुखी होते हैं, पर इन कर्मों का स्वरूप क्या है, कर्मों की मुद्रा मूरत क्या है? इसके सम्बन्ध में किसी ने भी निर्णय नहीं लिया। कर्म शब्दार्थ से तो किए जाने का नाम है। जो किया जाय उसका नाम कर्म है। जीव के द्वारा परिणाम किये जाते हैं तो शुभ और अशुभ परिणामों का नाम कर्म है और इन परिणामों का निमित्त पाकर जो बात बनती है बाहर में अर्थात् अनेक कर्मपरमाणु कर्मरूप बन जाते हैं वे सब द्रव्यास्रव हैं। तो उन द्रव्यकर्मों का न आना, आस्रव का निरोध हो जाना, इसका नाम द्रव्य संवर है। जैसे पूजा पाठ में कहते हैं ना लोग अष्टकर्म विध्वंसनाय, वे 8 प्रकार के कर्म क्या हैं? द्रव्यकर्म, बहुत सूक्ष्म जो वज्रों से भी न रुके, जो किसी से भी न निवारें जायें, ऐसे बहुत सूक्ष्म पुद्गल हैं जो कर्मरूप बन जाते हैं। वे कर्मरूप न बन सकें, इसका नाम है द्रव्यसंवर। यह बात उन ऋषि संतों ने बतायी है जिन्होंने आत्मा के ध्यान से पापकर्मों का विघात किया है, ऐसे संतों ने द्रव्यसंवर का यह लक्षण कहा है।

भावसंवर के समय द्रव्यसंवर का स्वयंभावन—द्रव्यसंवर पर हमारा कुछ वश नहीं है। हमारा वश तो अपने परिणामों पर है। हम ही स्वच्छन्द होकर बुरे परिणाम करते हैं तो हम ही विवेक उत्पन्न करके शुद्धपरिणाम भी कर सकते हैं। शुद्ध परिणामों के होने पर द्रव्यसंवर स्वयं हो जाता है प्रथम तो कर्म बिगाड़े से बिगाड़े भी नहीं जा सकते और फिर यह अमूर्त आत्मा उन कर्मों का क्या करे? यह तो अपने परिणाम बनाता है और पुद्गल कर्मों में कर्मरूप बन जाना या कर्मरूप न बनना कर्मत्व मिट जाना—ये सब बातें होती रहती हैं। यह द्रव्यसंवर स्वयं होता है। अष्टकर्मों का विध्वंस करना है तो अपने को करने का यही काम है कि अपने भाव निर्मल रखें।

श्लोक-180

या संसारनिमित्तस्य क्रियायाः विरतिः स्फुटम्।

स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञैयः परमागमात्॥180॥

कषायों से जीव की बरबादी—इस श्लोक में भावसंवर का लक्षण कहा जायेगा, संसार के कारणभूत है कर्मों के ग्रहण की क्रिया है योग और कर्मों की स्थिति व अनुभाग का कारण है कषाय। उनका अभाव करने का नाम है भावसंवर। इस जीव को क्लेश देने वाली 4 कषायें हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ। उन कषायों से कर्मों की स्थिति बनती है। कर्मों के अनुभाग में तीव्रता आती है, कर्मों का जमाव होता है। इन कषायों का विनाश किए बिना हम शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। कषायों को करके किसी ने लाभ नहीं पाया। न लौकिक लाभ पाया और न आत्मलाभ पाया। चारों ओर दृष्टि पसारकर परख लो, क्रोध करके किसी ने कुछ लौकिक समृद्धि पा ली हो सो भी नहीं देखा जा ता है। क्रोधी पुरुष का आत्मा तो भीतर जलता ही रहता है। उसे चैन कहाँ है? आत्मलाभ से वह कोसों दूर है। क्रोध कषाय करके किसने लाभ पाया है।

क्रोधकषाय से हानि का उदाहरण—नेमिनाथ स्वामी के तीर्थ के समय में एक द्वीपायन मुनि हुए हैं जो सम्यग्दृष्टि थे, जिन्होंने तपस्या करके तैजस ऋद्धि प्राप्त की थी। इतने ऊँचे ज्ञानी साधु होकर भी जब द्वीपायन मुनि पर कुछ शराब पिये हुए लोगों ने पत्थर बरसाये, उनको गाली दी, बहुत-बहुत संभाल करने पर भी वे अपने को संभाल न सके और उनके क्रोध उमड़ आया और वह क्रोध उतना तीव्र हुआ कि उनके बाये कंधे से तैजस शरीर निकला। तैजस शरीर निकला यह क्रोध की उनकी सबसे बड़ी स्थिति थी। उसही समय में उनका सम्यक्त्व खंडित हुआ, मिथ्यादृष्टि हुए, और जो तैजस पुतला निकला, उसने फैलकर सारी नगरी को भस्म किया और द्वीपायन को भी भस्म किया। क्रोध में और होता क्या है? क्रोधी जीव दूसरे का भी बिगाड़ कर बैठता है और खुद का भी बिगाड़ कर बैठता है। दोनों का बिगाड़ होने का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा?।

मान, माया, लोभ कषाय से हानि—मानकषाय करके भी जीव क्या पाता है? घमंड की बात बगराने से लोगों में कुछ इज्जत नहीं मिलती। सब लोग मन में उसे धिक्कारते हैं। यह कैसा मूर्ख है, कैसा घमंडी है? घमंड के सिवाय इसके कुछ काम ही नहीं है, इसे कुछ अपनी सुध नहीं है, सभ्यता नहीं है, नम्रता नहीं है। यह तो बड़ा उजड़ु है। उसके प्रति लोग इस तरह की धारणा रखते है और ऐन समय पर कोई कह भी बैठते हैं जिससे घमंड करने वाले की सारी पोजीशन नष्ट हो जाती है। इस लोक में भी मान से इस जीव ने क्या पाया और मानवश परलोक का लाभ तो कुछ भी उठा ही न सकेगा। मानकषाय से भी जीव को न शान्ति मिलती है, न लौकिक समृद्धि मिलती है और न आध्यात्मिक लाभ है, न परलोक का लाभ है। कषायों से किसने क्या लाभ पाया है? घर-घर में भी देख लो यही बात है। कषाय करके खुद दुःखी हुए और दूसरों को दुःखी कर डाला। गांव में, समाज में भी यही बात है। कषाय करके खुद भी बरबाद होते हैं और दूसरों को

भी बरबाद करते हैं। मायाचार और लोभ के परिणाम से तो यह जीव पाता ही क्या है? ज्वाला में जलना भुनना इसका बना रहता है।

कषायों के अभाव में शान्तिलाभ व संवर—मोह व कषायों को रोके इसका नाम भावसंवर है और कषायों के रुकने से द्रव्यसंवर स्वयं अपने आप होता है। जो भावसंवर के उपाय से आत्मसमृद्धि पाने में सफल हुए हैं ऐसे मुनीश्वर संतों ने कर्मों से बचने का यह उपाय बताया है। कषायों के दूर करने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसको किसी दूसरे से पूछने की क्या जरूरत है, खुद अपनी कषायें शान्त करके निर्णय प्राप्त कर लें कि कषायें न करने से कितना लाभ है? व्यर्थ को गाली गलौच हो गयी, मारापीटी हो गयी, लो कोई अंग टूट गया, पुलिस भी हैरान करे, मुकदमेबाजी हो गयी, तत्त्व क्या निकला? दो चार मिनट का क्रोध न शान्त कर सके, अपने को भी बहुत सता डाला और दूसरों को भी बहुत सता डाला, इसमें तत्त्व कुछ नहीं निकला। तो कषायों से इस जीव को शान्ति नहीं प्राप्त होती है। तत्त्व की बड़ी महिमा है। जीव का उद्धार संवर से प्रारम्भ होता है और उद्धार होने के पश्चात् भी संवरभाव बना रहता है।

कल्मषतानिवृत्ति के लिये सत्संगति व स्वाध्याय करने की शिक्षा—शिक्षा की बात इतनी तो ग्रहण कीजिये ही कि हम अज्ञानभाव दूर करें, मोह मिथ्यात्व मिटाये, कषायें शान्त करें तो हमारी यह सत्प्रवृत्ति, हमारा यह पुरुषार्थ हमारा कल्याण करेगा। हम अपने आपको न संभाल सकें और दूसरों से ही आशा बनाये रहें कि इनमें हमें सुख मिलेगा अथवा दूसरों पर कुदृष्टि बनाये रहें कि ये मेरे बाधक हैं, इनको तो मजा देना चाहिये, इनका विघात करना चाहिए, ऐसी बाह्यदृष्टि बनाये रहें तो इससे अपना कोई लाभ नहीं है। ऐसा जानकर मोह को हटाने का और कषायों के दूर करने का अपना यत्न बनाना चाहिये। यह यत्न मिलेगा, स्वाध्याय से और सत्संगति से। ये दोनों बातें एक दूसरे को प्रेरणा देने वाली हैं। स्वाध्याय से भावशुद्धि होती है। ज्ञानार्जन से निर्मलता बढ़ती है और सत्संग के लिए मन बढ़ता है असत्संग से हट जाता है, और सत्संग करने से जो कुछ कमी रहती है उसकी दृष्टि आती है, उसे दूर करने का भाव जगता है, इस कारण सत्संगति और स्वाध्याय—इन दो बातों में विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

श्लोक-181

असंयममयैर्वाणैः संवृतात्मा न भिद्यते।

यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे॥181॥

संयम में पापबाणों का अप्रवेश—सम्यक्त्व जगे, महाव्रत का धारण हो, समिति, गुप्ति, चारित्र, तपश्चरण इनकी ओर दृष्टि जगे तो यह पुरुष कर्मों से अजेय हो जाता है। जैसे कोई पुरुष युद्ध में लड़ने जाय तो यदि वह अपने शरीर को लोहों के कवचों से जो युद्ध के साज हैं उनसे सजकर युद्ध में जाता है तो शत्रु के बाणों से यह भिदता नहीं है, इसी तरह से जिस आत्मा ने अपने आत्मा को व्रतों से, चारित्र से, तपश्चरण से मजबूत बनाया है उसे फिर असंयम के बाण, पापों के बाण नहीं भिदते हैं। सब बातें केवल एक चिन्तन से होती है। यदि अपने चिन्तन में शुद्ध दृष्टि आयी है आत्मस्वभाव की ओर झुकाव बनता है तो यह परिस्थिति इतनी सुदृढ़ होती है कि वहाँ खोटा भाव विषय कषायों के परिणाम फटक नहीं सकते। और इस ही में भला है। पापरूप परिणाम करके इस जीव को पराधीनता, पाप का बंध, घबड़ाहट, क्षोभ कायरता—ये सब खोटी बातें उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु व्रतरूप प्रवृत्ति होने से, ज्ञानदृष्टि जगने से आत्मा में एक बड़ा बल उत्पन्न होता है और उसे पाप छू नहीं सकते।

विषय कषाय में अलाभ का चिन्तन—अहो, विषयों के भोग में कषायों के करने में जीव को मिल क्या जाता है? खूब अच्छी तरह से निर्णय कर लो, अब तक क्या मिला, इससे ही समझ बना लो। इतनी उम्र हो गयी, नाना प्रकार के पंचेन्द्रियों के विषयों में लगे रहे, आज लगा क्या हाथ? हाथ लगने की बात तो दूर रही, अपना खोया ही है सब कुछ। पुण्य खोया, आत्मबल खोया, मनोबल खोया, सब कुछ खोया है, पाया कुछ नहीं है। भले ही यह मोही जीव कल्पना में समझे कि हमने इतना परिवार बनाया, मकान बनवाया, हमने बहुत-बहुत काम किये, किन्तु पाया कुछ नहीं। आज जो एक शरीर में बैठे हुए हैं उस शरीर में विराजमान् आत्मा की बात पूछो कि हे आत्मन् ! तुझे क्या लाभ मिला? उत्तर मिलेगा, कुछ नहीं। बल्कि यह और भी कायर बना, अधिक उलझनें आ गयी, अब यह और अधिक पराधीन हो गया। यों बिगाड़ ही बहुत मिला। यह बिगाड़ किसने किया? पाप परिणामों ने, असंयम भावों ने। यदि इन विडम्बनाओं से बचना है तो अपनी शक्ति माफिक संयम धारण करो।

असंयमवृत्ति से पीछे पड़तावा—भैया ! मनुष्य एक बार के खाने से भी जीवित रहते हैं लेकिन ऐसा असन्तोष रखते हैं कि बार-बार बिना खाये काम तो नहीं चलता। ठीक है। कुछ पुण्य का उदय है, भोगसाधन मिले हैं, तो चाहे जितने बार खायें, लेकिन जब कोई दरिद्रता की स्थिति आ जाय या अन्य पशु नारकादिक कुयोनियों में जन्म हो जाय तो क्या वहाँ रात दिन कई बार खाये बिना गुजारा नहीं चलता? अरे कुछ उत्साह जगायें, कुछ संयम के भाव बनायें, अपने पद माफिक संयम की प्रवृत्ति रक्खें। यदि कुछ भी संयम न रक्खा, असंयमभाव में ही पड़ते गये तो जीवन तो जा ही रहा है। जब मरणकाल आयेगा तब इसको ख्याल होगा, ओह ऐसा दुर्लभ नर जीवन इसको इस तरह असंयम में, पापों में बिता डाला। बड़ा खेद होगा। जैसे बड़ी मुश्किल से पायी हुई निधि हाथ से छूटकर समुद्र में गिर जाय तो वह कितना विषाद मानता है, ऐसे ही समझो कि अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य देह मिला है और इसे इन्द्रिय के

विषयों में ही खो दिया तो कुछ यदि विवेक रहेगा तो अन्त में यह बहुत पछतायेगा। देखो शरीर तो गया ही, शरीर तो बूढ़ा ही हुआ, हम यदि भोगों में न रमते, असंयम में न रहते, कुछ संयम करते, तपश्चरण करते, आध्यात्मिक साहस बनाते तो हमारा बिगाड़ क्या था?

संयमधारण की प्रेरणा—शरीर का स्वभाव तो मिटने का ही है, बुरे परिणामों में रहे तो मिटेगा, भले परिणामों में रहें तो मिटेगा। बल्कि शरीर का मिट जाना तो लाभकारी चीज है। ऐसा मिटे यह शरीर कि फिर कभी शरीर न मिले यह अपने लाभ वाली बात है। यदि शरीर रहित अवस्था पानी है तो संयम धारण करें। भक्ति में कहा गया है कि संयम के बिना एक घड़ी भी न व्यतीत हो। एक असंयम के स्वभाव वाली प्रवृत्ति इस जीव को दुर्गति देने वाली होती है। जहाँ मन में भाव ही न आये कि मुझे कल्याण करना है। केवल पशु-पक्षियों की या मूढ़ों की, गँवारों की प्रवृत्ति की तरह अपनी प्रवृत्ति बनायी तो उसमें अच्छा फल न होगा। केवल खाने का ही संयम नहीं, वचनों का संयम हो, ब्रह्मचर्य का संयम हो, जैसी चाहे रागभरी मुद्रा देखने का परिहार हो, राग रागनियों के सुनने पर भी संयम हो, सात्विक रहन सहन हो, मन की भी उड़ानें खत्म कर दी जायें, यों पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन इनमें अपनी शक्ति माफिक संयम बनायें। असंयम में इस जीव को कुछ भी लाभ की बात नहीं है।

ज्ञानी वीर का संयम कवच—जैसे कोई पुरुष युद्ध में, संकट में लोहे के कवच आदिक को अपने शरीर में सजाकर युद्ध में जाता है तो बाणों से नहीं भिदता, इसी तरह ब्रह्मरूप परिणाम से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के रत्नत्रय के दृढ़ कवच से जिसने अपने आपको सजाया है ऐसा संयमी पुरुष भी असंयम के बाणों से नहीं भिदता है अर्थात् अशान्ति उसमें नहीं आती है। जिसे शान्ति चाहिए ही वह अच्छा आचरण करे, ज्ञान बढ़ाये और संयम तपश्चरण व्रतरूप अपनी प्रवृत्ति रक्खें, यों कषायें दूर होंगी और अपना भला होगा।

श्लोक-182

जायते यस्य यः साध्यः स तेनैव निरुध्यते।

अप्रमत्तैः सुमुद्युक्तैः संवरार्थं महर्षिभिः॥182॥

आस्रव का प्रतिपक्षी भाव—जिसका जो साध्य है अर्थात् जिस प्रकार से जो बात बनती है वह उस ही तरह से रुकती है अर्थात् उसके प्रतिपक्षी उपायों से वह रुक जाती है, इसी प्रकार अप्रमत्त सावधान उद्यमी साधुजनों को संवर के लिए आस्रव से उल्टा उपाय करना चाहिए अर्थात् कर्मों का आना जैसे क्रोध से हो

रहा है तो कर्मों का आना रोकना है तो क्रोध से उल्टा भाव बना लीजिए, कर्म रुक जायेंगे। जिस कारण से आस्रव है उसका विरोध भाव लाया जाय तो आस्रव का अभाव हो जायेगा।

जीव का दुःखकारी व हितकारी भाव—जीव को दुःखकारी आस्रवभाव ही है, जीव का हितकारी भाव तो स्थायीभाव है। जो भाव सदा रह सके उस भाव से जीव को हित है। जो सदा रह सकता है वह भाव शान्त है, धीर है, उदार है, सहज है, स्वाधीन है। जो भाव स्थिर न रह सके वह भाव क्षोभरूप है, पराधीन है, उससे कोई हित नहीं हो सकता। जैसे मान लो पुण्य के ठाठ हैं, उदय अच्छा है, अनेक साधन ठीक चल रहे हैं, ठीक है चल तो रहे हैं और उन साधनों में मौज भी मानी जा रही है और मौज भी ठीक चल रही है लेकिन ये सब स्थायी चीजें तो नहीं हैं। बड़े-बड़े पुण्यवान पुरुष इसी बल पर तो विरक्त हुए हैं, हालांकि मिला है सब कुछ, पर स्थायी नहीं है तो उससे पूरा न पड़ेगा जीव का। जीव एक उतना ही तो नहीं है जितना इस भव में है, इस क्षेत्र में है, यह तो अमर है, सदा काल रहेगा। रूपक बदलता रहता है इस कारण यह बहुत जरूरी है कि हम धर्म में लगे, आस्रव का निरोध करें, शान्तस्वभाव का आदर करें, कषायों से दूर हटें। ये सब बहुत जरूरी चीजें हैं। तो संवर के लिए महर्षि जनों को आस्रव के निरोध के लिए उससे विरुद्ध परिणाम अर्थात् आत्मा के अनुकूल परिणाम करना जरूरी है। वह प्रतिपक्षी परिणाम क्या है? उसका वर्णन आगे के श्लोक में कर रहे हैं।

श्लोक-183

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्यार्जवं पुनः।

मायायाः संङ्गसन्यासो लोभस्यैते द्विषःक्रमात्॥183॥

क्रोध के प्रतिपक्षी क्षमाभाव से क्रोध का विघात—क्रोध कषाय का प्रतिपक्षी भाव तो क्षमा है। क्रोध और क्षमा का परस्पर में बैर है, विरोधीभाव है एक दूसरे के। जहाँ क्रोध है वहाँ क्षमा नहीं, जहाँ क्षमा है वहाँ क्रोध नहीं। क्रोध को जीतना हो तो क्षमा से जीतिये। क्रोध करने के कारण जो कर्मों का आस्रव होता है उस आस्रव को रोकना है तो क्षमाभाव लावें वह आस्रव रुक जायेगा। क्षमा का स्वभाव तो सदा रहना चाहिए। किसी प्रसंग में किसी अन्याय पर क्रोध भी आ जाय तो भी क्षमा का स्वभाव तो रहना ही चाहिए क्रोध करने पर भी, क्योंकि यदि अन्तरङ्ग में क्षमा की प्रकृति नहीं है और क्रोध कर रहे हैं और क्रोध की ही आदत है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होगी और उससे सही काम नहीं बन सकता। कभी क्रोध आ भी जाय तो भी क्षमा की प्रकृति न मिटनी चाहिए क्षमा से कर्मों का आस्रव रुकता है।

क्षमा गुण की प्रधानता—सब गुणों में क्षमा की बड़ी प्रधानता है। किसी पुरुष में अनेक गुण हों और क्षमा गुण न हो, क्रोध की ही आदत सदा बनी रहती हो तो क्रोध को ज्वाला बताया है और इस ज्वाला में सब गुण भस्म हो जाते हैं। आप किसी का कितना ही कितना ही उपकार कर रहे हों, बहुत मदद की है, किसी समय विकट क्रोध कर डाले उस पर, तो उसमें फिर कृतज्ञता नहीं रह पाती। किए हुए समस्त काम उसने खराब कर लिये। क्षमा से चित्त भी शान्त रहता है आत्मा भी शान्त रहता है और शान्ति के लिए, धर्मलाभ के लिए जो कुछ कर्तव्य है, वह सब भी सूक्ष्मता से होता रहता है। तो क्षमा क्रोध का बैरी है। इस क्षमा के द्वारा क्रोधजनित आस्रव को रोकना चाहिए।

मार्दवभाव से मानकषाय का विघात—मान कषाय का बैरी है नम्रता, कोमलभाव। जहाँ मान है वहाँ नम्रता नहीं रह सकती। जहाँ नम्रता है वहाँ मान नहीं रहता। मान कषाय की उपमा कठोरता से दी है। किसी का मान पत्थर जैसा है, किसी का मान हड्डी जैसा है, किसी का मान काठ जैसा है और किसी का मान बेंत जैसा है। चार डिग्रियाँ मान कषाय की कही हैं। तो यह नम्रता की ख्याति के लिए दृष्टान्त है। बेंत जैसे निमावो निम जाता है। बेंत से अधिक कठोर है काठ और काठ से अधिक कठोर है हड्डी और सबसे अधिक कठोर है पत्थर लोहा भी नम जायेगा। लोहे पर वज्रन पड़े तो नम जायेगा और पत्थर पर वज्रन पड़े तो नमने का काम नहीं है, टूट जायेगा। तो ऐसे ही मान भी किसी का बहुत कठोर, किसी का कम कठोर है, मान कषाय में कठोरता आ जाती है। कड़ा चित्त हो जाय, किसी को कुछ न समझे, अपना ही मान रखने का उपाय स्वप्न बना रहे, उस मान कषाय से जो कर्मों का आस्रव होता है उस आस्रव को रोकना है तो नम्रता का परिणाम करना चाहिये।

सरलता से मायाकषाय का विघात—माया कषाय का शत्रु है सरलता अर्थात् जहाँ सरलता है वहाँ मायाचार नहीं, जहाँ मायाचार है वहाँ सरलता नहीं। बच्चों में सरलता बहुत नजर आती है। उनमें मायाचार नहीं। किसी बात को मना कर दो, अमुक बात न कहना तो कहो वह यह कह बैठे, आपने जो बात कही कि वह मैं न कहूँगा। आप ऐसा कहते थे ना, मैं नहीं कहूँगा, आपने रोक दिया, तो रुका कहाँ, कह तो डाला। तो वहाँ सरलता अधिक है और सरलता होने के कारण ही बच्चे प्रसन्न रहा करते हैं। किसी बड़े को बच्चों से ईर्ष्या हो सकती है कि हम प्रसन्नता नहीं रहते। बच्चे बड़े खुश रहते, उन्हें न कोई चिन्ता है, न बोझ है, खेलते रहते। खुश रहते। प्रसन्न रहते हम इतना मरे जा रहे हैं। तो बच्चों में प्रसन्नता का जो गुण है वह गुण हममें नहीं है। उनमें सरलता है क्षमा भी है। अभी थोड़ा लड़ गये किसी से और एक ही मिनट बाद भूल गए तो ये कषाय जहाँ उग्र हो जाती हैं वहाँ प्रसन्नता नहीं रह सकती। मायाचार से उत्पन्न होने वाले आस्रव को रोकना है तो सरलता की वृत्ति कीजिए। सरल परिणामों से यह आस्रव रुक जाता है।

उदारता से लोभकषाय का विघात—लोभ कषाय का प्रतिपक्षी है परिग्रह के त्याग करने का भाव, उदारता। जहाँ उदारता है वहाँ लोभ नहीं है। लोभ कषाय के करने से जो कर्मों का बंध होता है उस बंध को दूर करना है तो उदारता आनी चाहिए, पवित्र परिणाम यह भाव रहना चाहिए कि मेरे आत्मा से ये सभी पदार्थ भिन्न हैं। अन्य समागमों से जुदा रहने का स्वरूप ज्ञान में बसा रहना चाहिए तब लोभ दूर होता है।

क्षमादिक गुणों से सर्वत्र लाभ—क्षमा, मार्दव, आर्जव व उदारता, इन चार प्रकार के धर्मरूप परिणामों से इस जीव को परमार्थिक लाभ तो है ही, पर आर्थिक लाभ भी है। कोई व्यापारी क्रोधी बन रहकर धनार्जन में सफल नहीं हो सकता। उसके पास जाने में ग्राहक को भय लगता है, घृणा हो जाती है। उसके पास कोई नहीं बैठना चाहता। जो घमंडी व्यापारी है उससे भी लोग दूर रहते हैं। मायाचार वाले से भी लोग दूर रहा करते हैं। जिसके विषय में यह पता पड़ जाय कि यह बड़ा मायावी पुरुष है दगाबाज है, छली है, कपटी है तो फिर उसका व्यापार नहीं चल सकता। इसी प्रकार जो लोभी है उसका भी व्यापार नहीं चल सकता, क्योंकि लोभकषाय के रंग में रंगा होने से उसके वचनों में, उसकी कृति में, उसके व्यवहार में फर्क आ जाता है। किसी का जरा भी सत्कार न कर सका, कुछ भी दूसरों के सत्कार में व्यय न कर सका तो उसका काम आगे कहाँ चलेगा? तो कषायों के कम करने से आर्थिक लाभ भी है और पारलौकिक लाभ भी है। इन चार प्रकार के धर्मों से अपने आपके आत्मा को पवित्र करें और कर्मों के आस्रव को रोके।

धर्म की रक्षकता—आज के समय में लोग धर्म की बात को ढकोलसा मानते हैं और यह बात सच भी है। धर्म का असली रूप, असली जड़ समझ में न आये तो धर्म के नाम पर जो कुछ भी किया जाय वह ढकोसला है और लोगों की समझ में यह आयेगा ही कि धर्म तो एक ढकोसला है, कोई तत्त्व की चीज नहीं है, किन्तु धर्म क्या है, स्वरूप क्या है और वास्तविक मायने में धर्म का परिणाम आये तो उसका क्या प्रभाव पड़ता है? इस बात का परिचय हो जाय तो वह धर्म का आदर किये बिना रह नहीं सकता। धर्म में न कोई मजहब है, धर्म में न कोई किसी प्रकार का भेदभाव है। धर्म तो धर्म है। आत्मा का स्वभाव प्रकट हो उसका नाम धर्म है। क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता ये परिणाम हों तो उस आत्मा को भी शान्ति मिलती है और भविष्य भी उज्ज्वल रहता है। धर्म ढकोलसा नहीं है किन्तु आत्मा का सच्चा रक्षक है।

स्थायीभाव के आदर का अनुरोध—भैया ! विषय कषाय सम्बन्धी अस्थायी भावों से जीव का पूरा न पड़ेगा। इन अस्थायी समागमों से जीव का कुछ हित न होगा। बहुत धन है तो भी अनेकों के देखने में आया है कि कुछ ही दिन बाद उनकी स्थिति अत्यन्त नाजुक हो जाती है। जिनकी स्थिति अत्यन्त नाजुक है कुछ दिन बाद वे बड़े भरे पूरे नजर आते हैं। ऐसे ही शरीर की बात देखो। विश्वास पर तो सब कुछ कह सकते हैं मगर पक्की बात कुछ भी नहीं कह सकते। कोई पुरुष शरीर से बड़ा चंगा है। कुछ ही समय बाद क्या स्थिति गुजर जाय इसे क्या पता? कहो रुग्ण हो जाय, कहो रंग बदल जाय। तो जो चीज मायारूप है, भिन्न है, पर

है वह कैसे ही मिल जाय, पर वह आत्मा को हितरूप नहीं है। आत्मा का विवेक आत्मा को हितरूप है। अस्थायी और स्थायी रस में विवेक करके स्वाधीन, अभिन्न निज स्थायी भाव का आदर करो, अवश्य कल्याण होगा।

श्लोक-184

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम्।

मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः॥184॥

रागद्वेष के अभाव से सिद्धि—जो योगी ध्यानी मुनीश्वर हैं वे सदैव समतापरिणाम से निर्ममत्व भाव से रागद्वेष का निराकरण करते हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि इस इंसान के दोनों कंधों पर दो दैत्य रहते हैं। वे दो दैत्य क्या हैं? राग और द्वेष। जो इस कंधे पर सवार बने रहा करते हैं। इन राग और द्वेषों से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जो इन रागद्वेषों पर विजय पाये वही तो सत्पुरुष है। जैसे कहते हैं कि हम लोग दुकान करें, कोई चीज बनायें, ऐसे ही यदि ईश्वर भी कोई चीज बनाता है, कुछ व्यवस्था करता है, लोगों के सुख दुःख का हिसाब रखता है, रोकड़-बही बनाये रहता है तो हममें और ईश्वर में फर्क क्या रहा? इतना ही अन्तर समझो कि एक छोटा दुकानदार और एक बड़ा दुकानदार, क्या अन्तर रहा? ऐसे ही समझिये कि रागद्वेष जितने लोग भी करते हैं उन रागियों में, द्वेषियों में परस्पर क्या अन्तर रहा?

रागद्वेष की मन्दता से महापुरुषपना—महापुरुषता किसका नाम है? महापुरुष बनता है रागद्वेष पर विजय पाने से। जितना निकट यह अपने आत्मा की ओर आये, रागद्वेष दूर हों, समतापरिणाम जगे, निर्मोह विकास हो, बस उसी का नाम महापुरुष है। हम ही जैसा रागद्वेष कोई करता रहे, कोई ओर राजपाट मिल गया या कुछ विशेष समृद्धि मिल गयी, उसके कारण यदि वह महापुरुष कहलाये इसके लिए यह उपमा रखिये। जैसे कर्ता हर्ता ईश्वर में और कर्ता हर्ता मनुष्यों में कुछ अन्तर नहीं रहा। ऐसे ही रागी द्वेषी छोटे पुरुष में और रागीद्वेषी समृद्धिशाली पुरुष में अन्तर कुछ नहीं रहा। सत्पुरुषता समतापरिणाम से और निर्मोह भाव से प्रकट होती है, तब रागद्वेष पर विजय करें। उसके उपाय ये दो हैं—समता और निर्ममता। किसी वस्तु में मोह न होगा तो रागद्वेष न किया जा सकेगा।

मोह की कलुषता में राग द्वेष का जमाव—रागद्वेष की जड़ मोह परिणाम है। उससे ही समता बिगड़ती है। कैसा अज्ञान है कि जगत के सभी जीव तो भिन्न हैं। कोई घर में उत्पन्न हुआ हो तो, या अन्य घर में हो तो, सभी जीव तो भिन्न हैं, उन भिन्न जीवों में कैसे छटनी बना ली है कि ये तो मेरे खास हैं और सब गैर

हैं। हाँ, लोकव्यवस्था के लिए गृहस्थी के संचालन के लिए जो माना जाता है वह बात और है किन्तु कोई ऐसा ही ज्ञान बनाये हो कि वाह कैसे नहीं है ये मेरे, मेरे ही हैं, किसी अन्य के नहीं हैं और सब गैर ही हैं—ऐसा मूल में अज्ञान बसा हो तो उसके बड़ी कठिन विपदा है। विपदा का सुधारना ही वास्तविक सम्पदा है और भावों का बिगड़ना यह वास्तविक विपदा है। समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बताया है कि यदि पापों का निरोध हो गया तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन? और यदि पापों का निरोध नहीं हुआ तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन? पाप रुक गये तो यही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य सम्पदा से क्या मतलब?

पौद्गलिक ढेर की चाह में रीतापन—अच्छा बताओ तुम्हें सम्पदा चाहिए या शान्ति? यह पौद्गलिक ढेर चाहिए अथवा शान्ति? यदि पौद्गलिक ढेर चाहिए तो पौद्गलिक ढेर में तो बसे ही हुए हैं, फिर क्यों इनमें आनन्द नहीं पा रहे हैं? एक तो यह शरीर का ढेर लगा है, इसके बाद जो चारों तरफ पौद्गलिक ढेर पड़ा है, जिसका जो वैभव है वह वैभव भी न आत्मा में प्रवेश करता है और न वह सारा उपयोग में आता है, काम में नहीं आता, आत्मा में नहीं आता। फिर भी मान लेते हैं कि यह मेरा है। तो मानने से ही तो मेरा बना कि मेरा हो ही गया। जिसके पास जो विभूति है वह विभूति उसकी वास्तविक बन गयी या मानने में बन गयी? मानने में बनी है तो जब मानने से ही बनती है तो जितने ये ढेर पड़े हैं इन सबको मान लो कि मेरे हैं जैसे घर में कोई बूढ़ा होता है और उसके बच्चे लखपति हैं मानो, तो बूढ़े को कुछ मिलना उसमें से नहीं है क्योंकि सब लड़के जानते हैं कि बूढ़ा है, किसी काम नहीं आता है। इतना है कि इसे रोटियाँ मिल जायें। लेकिन वह बूढ़ा उस सारी विभूति को अपनी मानकर खुश बना रहता है। जैसे लोग कहते हैं कि यह घर तो हमारा है पर हाथ नहीं लगाना, यह स्थिति होती है बूढ़ों की। वह मानता है चित्त में कि सब मेरा है, पर हाथ कहीं नहीं लगा सकता। तो मानने का ही तो रहा, तो सारे पुद्गल को मान लो कि मेरा है।

शान्ति का साधन—अच्छा फिर बताओ—तुम्हें शान्ति चाहिए या पौद्गलिक ढेर। शान्ति चाहिए तो शान्ति के लिए कुछ आध्यात्मिक खोज भी करें, समता जगे, निर्ममता हो, मिथ्यात्वभाव दूर हो, अपनी ओर झुकाव हो तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। शान्ति के लिए शान्ति के बाधक कषायों के प्रतिपक्षी भाव से भावकर्म व द्रव्यकर्मों का आस्रव दूर करना कर्तव्य है। हे हितार्थीजनों ! चाह शान्ति की करो, पौद्गलिक ढेरों की चाह न करो। इस श्लोक में यह शिक्षा दी है कि सम्यक्त्व के योग से तो मिथ्यात्व का निराकरण होता है और फिर मिथ्यात्व के निराकरण के प्रसाद से सुगम उपलब्ध समता और निर्ममता से राग और द्वेष का निराकरण होता है। मोह, राग और द्वेष के निराकरण से ही शान्ति का विकास होता है। अतः हे भव्यजनों ! निज शुद्ध अन्तस्तत्त्व की प्रतीतिसहित उपेक्षासंयमरूप संवर भाव से संसारसंकटों का, विषयकषायों का अभाव करो और सहज आनन्द का अनुभव करो।

श्लोक-185

अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम्।

ज्ञानसूर्याशुभिर्वाढं स्फोटयन्त्यात्मदर्शिनः॥185॥

अज्ञानतम का निरसन—जिन्होंने आत्मा के सहजस्वरूप का दर्शन किया है अर्थात् यह आत्मा अपने आप अपने सत्त्व के कारण कैसा स्वभावमय है उस रूप में जिन्होंने अनुभव किया है ऐसे मुनिजन अज्ञानरूपी सूची की किरणों के द्वारा अविद्या के प्रसाद से उत्पन्न हुए अंधकार को दूर कर देते हैं। तत्त्वज्ञान का आवरण करने वाला है अज्ञान।

अज्ञानान्धकार की गहनता—अज्ञान एक ऐसा अँधेरा है कि जिस अँधेरे में रहने वाले पुरुष को अपना अंधकार नहीं मालूम होता और उस अंधकार में ही काल्पनिक प्रकाश मालूम करता रहता है। जैसे कहीं सीधी जल भरा हुआ है तो उससे नुकसान नहीं होने का। अच्छी तरह से मनुष्य या तो उससे बचकर निकल जायेंगे या धीरे-धीरे अवगाह करके निकल जायेंगे, लेकिन कोई पाषाण संगमरमर या अन्य कुछ इस ढंग का हो कि वह जलरूप मालूम दे तो वह विडम्बना करता है। पद्मपुराण में राम रावण के युद्ध के समय की एक यह भी घटना बतायी है कि रावण जब श्री शान्तिनाथ के मन्दिर में विद्या सिद्ध कर रहा था तो उसकी सिद्धि में बाधा डालने वाले अनेक लोग उस मन्दिर में गए तो वह मन्दिर बहुत-बहुत कलावों से निर्मित था। है तो जमीन और दिख रहा है पानी। बीच में लगा है खम्भा और वह दृष्टि में आता नहीं। आसमान सा लग रहा, तो कुछ लोग सीधे चले गए तो खम्भे से मस्तक टकरा गया। कुछ लोग जमीन में पानी की तरह उतरने लगे तो वे गिर पड़े, चोट आ गयी। तो एक यह अज्ञान का अँधेरा भी ऐसा है कि यह काल्पनिक उजाला समझकर चल तो रहा है अँधेरे में और मौज मानता है, उसके बहुत गहरी चोट लगती है।

अज्ञानान्धकार को दूर करने का उपाय—इस अज्ञान अंधकार को वह ही पुरुष दूर कर सकता है जिसे भीतर से ज्ञान की प्रेरणा मिली है। हर एक बात तो दो दो हुआ करती है या इस पार या उस पार। नदी के दो तट हैं, इस पार या उस पार। ऐसे ही यहाँ दो तट हैं, एक ओर ज्ञान, एक ओर अज्ञान। इन दोनों तटों पर ठहर जाना सुगम है। कोई ज्ञान से अपना सम्बन्ध जोड़ता है और कोई अज्ञान से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। बस अज्ञानमयी कल्पनाएँ ये ही तत्त्वज्ञान को रोकती हैं। उस अंधकार को आत्मदर्शी पुरुष ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से नष्ट कर डालते हैं। बैठे ही बैठे उपयोग कुछ झुका अपनी ओर लो ज्ञानप्रकाश का अनुभव हुआ। राग द्वेष मोह से आविष्ट होकर जो बाहर की ओर झाँका कि लो अब क्षोभ होने लगा। केवल एक

अपने आपके ही भीतर मुड़ने की बाहर झुकने की ऐसी कला है कि जो कोई परिश्रमसाध्य नहीं। कोई भीतर को मोड़ लेता, कोई बाहर को झांक लेता। दोनों काम सुगम है, दोनों में श्रम कुछ नहीं है, पर जिनका होनहार अच्छा है वे सीधा काम करते हैं और जिनको संसार में अभी रुलना है उनका बाहर में झुकाव रहता है।

संवर का उपाय आत्मज्ञान—सत्य समझें—जब तक अपना ज्ञान अपने स्वरूप की ओर झुककर एक विशुद्ध आनन्द का अनुभव न कर ले तब तक जिन्दगी क्या जिन्दगी है? यहाँ जगत् के मायावी पुरुषों में कुछ अपना नाम रखा लिया तो वे मायावी क्षणिक है, ये नाम भी क्षणिक है ये शकलें भी क्षणिक हैं, सब स्वप्न की तरह हैं। सारभूत बात तो इतनी है कि यह आत्मा अपने आत्मा के स्वरूप की सुध कर ले। आत्मदर्शी पुरुष अपनी सुध करने के कारण अपने समस्त अज्ञान के बखेड़ों को दूर कर देता है। संवर का यह प्रकरण है और संवर भाव तब तक प्रकट नहीं होता जब तक अपने आपका सही परिचय न मिल जाय। कर्मों के रुकने का नाम संवर है। अपनी सुध भूलने से कर्म आते हैं और अपनी सुध करने से कर्म अपने आप रुक जाते हैं। कर्तव्य यह है कि हम कुछ अपने भीतर चिन्तन करें, कुछ अनुभव करें। अपनी ओर के भीतर का झुकाव कल्याण का कारण बनता है।

श्लोक-186

असंयमरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः।

निराकरोति निःशङ्कं संयमी संवरोधतः॥186॥

असंयमविष का दूरीकरण—जो संवर करने में तत्पर पुरुष हैं, संयमी मुनि हैं वे निःशंक होकर असंयमरूपी विष के उद्गार को संयमरूपी अमृतमय जल से धो डालते हैं। जैसे किसी को किसी कीट-पतंगे का विष चढ़ जाय तो उस विष को दूर करने का एक तो उपाय है निःशंक होकर कोई मंत्रवादी के द्वारा प्रयोग होना और एक औषधि सेवन का उपाय है। जो पुरुष निःशंक है, शंकारहित है वह औषधि सेवन करके अपने इस विष को दूर कर लेता है।

समृद्धि में ज्ञान का सहयोग—भैया ! कुछ स्वास्थ्य के बनने में ज्ञान भी मदद करता है। केवल भोजन ही भोजन स्वास्थ्य का कारण नहीं है। अपना ज्ञान होना, दिल की स्वच्छता रहना, चित्त को सही बनाते रहना ये भी शारीरिक स्वास्थ्य के कारण होते हैं। कोई पुरुष कायर बुद्धि का हो, तृष्णा में अति आसक्त हो तो वह इसी कारण परेशान दिल बना रहता है। केवल एक अपने स्वार्थ की ही बात चित्त में बनी रहती है, इसी

कारण उसका दिन प्रसन्न भी नहीं रहता। वह अपने को बड़ा बोझ वाला महसूस करता रहता है। ऐसे पुरुष प्रायः मलिन और अस्वस्थ रहा करते हैं। तो लौकिक समृद्धियों में केवल एक परिग्रह का जुट जाना ही कारण नहीं है किन्तु अपने ज्ञान का सही होना, विवेक बना रहना, बुद्धि का गतिमान होना यह भी लौकिक सुख का कारण है।

ज्ञानी संतों का तपश्चरण—ये महाव्रती मुनि संयमरूपी अमृतमयी जल से उस असंयम के विष को दूर कर डालते हैं। असंयम में क्लेश है और असंयम में आनन्द है, लेकिन जब मोह का तीव्र उदय रहता है तो इस जीव को संयम में आनन्द कम मालूम रहता है और असंयम में आनन्द मालूम होता है। संयम वास्तविक वह है जहाँ यह ज्ञान अपने आत्मा के स्वरूप में समाये, स्वरूप को जाने, वही वास्तविक संयम है और इस संयम के लिए ही व्यवहार में अन्य संयम किए जाते हैं। केवल जो उपवास या धूप में ठंड में बैठने या अन्य प्रकार के कायक्लेश सहने में संयम मानते हैं उनको संयम में आनन्द नहीं आता है। वहाँ भी क्षोभ और खेद बना रहता है और जो इस आध्यात्मिक संयम का आदर करते हैं, आत्मा को जानने का जिनका लक्ष्य है, वे पुरुष बाहरी संयम के पालन करने पर भी चित्त में खेद नहीं रखते हैं।

कर्मनिर्दहन का उपाय विशुद्ध आनन्द—कर्मों को जलाने की शक्ति आनन्द में है कष्ट में नहीं है। कर्म कष्ट से नहीं खिरा करते हैं, कर्म कष्ट से नहीं रुका करते। कर्मों के भी रुकने का कारण शुद्ध आनन्द का अनुभव है और कर्मों के दूर होने का भी कारण शुद्ध आनन्द का अनुभव है आत्मा के अनुभव में जो एक अनुपम आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द के कारण से कर्म रुकते हैं और दूर होते हैं ऐसा आनन्द ज्ञानी, तपस्वी की तपस्या के समय बना रहता है। अन्य लोग तो यों निरखते हैं कि देखो हाथ कैसा धूप में, ठंड में ये साधु महाराज विराजे हैं? दो दिन हो गए, चार दिन हो गए, ये आहार को नहीं उठे हैं, कितना कष्ट सह रहे हैं किन्तु यदि वह ज्ञानी साधु है तो वह कष्ट का अनुभव नहीं कर रहा है किन्तु जैसे एक व्यापारी को आर्थिक लाभ होते दिख रहा है तो वह उसकी बड़वारी में अपना चित्त बनाये रहता है, इतना हो गया, इतना और होने वाला है इतना और हो जायेगा, ऐसे ही ये ज्ञानी साधु संत आत्मा के अनुभव के प्रति ऐसे तृष्णालु बन गए हैं—यह हुआ अनुभव आत्मा का, अब यह आत्मानुभव बना रहेगा। इसे चिरकाल तक बनायें रहें, इस ओर ही उनका ध्यान रहता है। उन्हें क्लेश कहाँ है? वे तो आनन्द की होड़ लगाये हुए हैं। मात्र लोगों को दिख रहा है कि ये उपवास, सर्दी, गर्मी आदि के क्लेश सह रहे हैं। क्लेश सहने से कर्म नहीं कटते किन्तु आनन्द के अनुभव से कर्म कटते हैं। विशुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव होने से स्वाधीन सुगम उस आनन्द के अनुभव से ये समस्त असंयम के जहर दूर हो जाते हैं।

स्वरूपनिर्णय का प्रथम कर्तव्य—हमारा कर्तव्य है कि पहिले तो ठीक निर्णय बनायें, सही निश्चय बनायें कि धर्म के लिए हमें करना क्या है? पहिले तो हम सही जवाब अपने आपसे ले लें, फिर आप धर्म के लिए कुछ

भी उद्यम करें उससे पूरा लाभ लेते रहेंगे। अब तक प्रायः यह निर्णय ही नहीं किया कि धर्म के लिए हमें क्या करना है, धर्म के लिए क्या करना होता है? इस निर्णय के बिना पचासों वर्षों की दसलक्षणी हो जायें, पचासों वर्ष के सारे पर्व मना लिए जायें और पचासों बड़े-बड़े समारोह भी कर लिए जायें, किन्तु बाद में यह दिखता है कि यह पुरुष तो वहीं का वहीं है, फर्क क्या आया? अरे फर्क जिसमें आना है उसकी तो बात ही नहीं की, उसका चिन्तन ही नहीं किया। मैं क्या हूँ, मेरा क्या स्वरूप है और किस प्रकार का मैं रहूँ, कैसे मैं अपना ज्ञान करूँ तो मुझे शान्ति मिले? इसका कुछ निर्णय ही नहीं किया। केवल बाहर-बाहर दृष्टि करके मन, वचन, काय के प्रयत्न किए गए हैं। प्रथम कर्तव्य है अपना सही निर्णय कर लेना।

सम्यक्त्व की प्राथमिकता—किसी भीत पर बहुत बड़ी चित्रकारी कराने की जल्दी मचाने की अपेक्षा यह ज्यादा हितकर होगा कि उस भीत की पहिले खूब सफाई कर लें, उसे पहिले एक सी चिकनी बना दें। यह काम पहिले करने का है, यह काम तो कोई करे नहीं, ऊँची-ऊँची भीत पर बड़े अच्छे कीमती रंगों से चित्र बनाना शुरू कर दे तो चाहे जितना समय खराब कर दे, पर वहाँ कुछ भी लाभ की बात न आयेगी। इसी तरह हम धर्मपालन करने के लिए बहुत यत्न करते हैं। यात्रा पूजन विधान अनेक श्रम करते हैं, उन श्रमों के करते हुए मैं ही क्रोध आता रहता है। पीछे की ही बात जाने दो, पूजा करने जाते हैं, ध्यान, जाप करने बैठे हैं, जरा सी प्रतिकूल बात होने पर वहीं क्रोध उमड़ आता है। अरे धर्म तो एक ऐसी तैयारी है कि प्रतिकूल बात आये तो वहाँ उस प्रतिकूलता को मिटा दे और अपना आत्मशौर्य भी प्रकट रहे। शान्त रहे सुखी रहे, कभी विपत्ति आये, प्रतिकूलताएँ आयें तो वहाँ इस शान्तस्वभावी धर्म का और अधिक उपयोग करें।

विपदा में धर्मोत्साह की विशेषता—जैसे कोई राजा करोड़ों रुपये प्रति वर्ष सेना पर खर्च करता हो, 10-20 वर्ष खर्च किया। इतने में किसी शत्रु ने इस राजा पर आक्रमण कर दिया। अब राजा के मन में यह आये कि ये सब सेना के लोग बैठे रहें, पड़े रहें, खूब सोते रहें और करोड़ों रुपये हमने खर्च किये बेकार हैं यह सेना हटाओ, ऐसा उसके चित्त में आये और वह हटा दे तो उसका क्या हाल होगा? जो कुछ रहा-सहा राज्य है वह सब खत्म हो जायेगा, शत्रु अभी ही छुड़ा लेगा। कभी कोई शत्रु आक्रमण करे, उस समय यह विचारे कि अब तक इतना खर्च किया, अब मौका है, इसमें और डबल खर्च करें, उत्साह दें कि शत्रु से सेना भिड़ जाय, सामना करे। वह राजा बुद्धिमान् हे जो सेना को उत्साह दे और डबल खर्च बढ़ा दे और राजा मूर्ख है तो किसी शत्रु के द्वारा आक्रमण करने पर यह विचार करे, हमने बीसों वर्ष करोड़ों रुपया खर्च कर दिया और देखो शत्रु ने आक्रमण कर दिया, ये सेना बेकार है, उसे हटावो। ऐसे ही सोचिये कि अनेक वर्षों से हम धर्म करते चले आये हैं, हम पर कोई विपदा आये और उस समय हम श्रद्धान से डिग जायें, देखो बीसों वर्ष पूजा की, सत्संगति में रहे, गुरु सेवायें की और फल यह हुआ कि यह विपदा आ गई, हटाओ इस धर्म को। इस धर्म ने तो कुछ फायदा ही नहीं दिया। यह उस समय इस धर्म को छोड़ दे तो उस मूर्ख राजा की तरह

इसकी गति होगी। विवेकी पुरुष विपदा आने पर धर्म को और दूना उत्साहित करता है, ऐसी विपत्ति के समय के लिए ही तो यह धर्म शरण रहा करता है और विशेष धर्माचरण में लग जाय तो वह बुद्धिमान् है।

धर्म की स्वभावरूपता—धर्म आनन्दस्वरूप है, विशुद्ध ज्ञानरूप है। वह धीरे से ज्ञानबल को अन्दर ही अन्दर करने की चीज है, कहीं हाथ पैर पीटकर परिश्रम बताकर धर्म नहीं लूटा जाता है। धर्म तो शान्ति से ज्ञान के मार्ग में अपने आपमें स्वयं प्रकट होता है। इस धर्म के प्रसाद से साधुजन कर्मों का संवर करते हैं।

श्लोक-187

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः।

हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेपि दुर्घटा॥187॥

सद्बुद्धि के पहरे में पापों का अप्रवेश—जिस पुरुष के हृदय में सद्बुद्धि का पहरा लगा हुआ है उसके हृदय में पाप क्या फटक सकते हैं? जीव हृदय पर से सद्बुद्धि का पहरा उठ जाता है तो ये पाप पहरारहित द्वार देखकर शीघ्र घुस आते हैं, पापों में प्रवृत्ति होने के बाद क्लेश होता है। ये पापी पुरुष पाप की क्रियाओं को करते हुए चैन मानते हैं, अपने को बड़ा चतुर समझते हैं, किसी की आँखों में धूल झोंककर किसी पाप और छल के कार्य में कुछ सफल हो गए तो छली लोग अपने को बड़ा चतुर समझते हैं, किन्तु पाप समान विपदा और कुछ नहीं है। पाप ही एक विपदा है। जिसके पाप आते हैं उसके यही तो विपदा है। आगे भी विपदा आयेगी। जिसके पाप रुक गए हैं तो यही तो सम्पदा है। इस समय भी वह सुखी शान्त है और भविष्य में भी सुखी शान्त रहेगा। जैसे चतुर द्वारपाल मैले असभ्य पुरुषों को दरवाजे में आने ही नहीं देता, महलों में प्रवेश नहीं करने देता, इसी प्रकार जिसके हृदय पर सद्बुद्धि का पहरा लगा हुआ हो तो वहाँ सद्बुद्धि का पहरा पापों को हृदय में फटकने न देगा। इतना साहस होना चाहिए कि कोई कष्ट आये तो ईमानदारी से उस कष्ट को सहन करना मंजूर करें, पर उस कष्ट से विडम्बना छुटाने के लिए अयोग्य आचरण न करें।

संयम में अन्तःनिराकुलता—देखने में तो ऐसा लगता है कि संयमी लोग बड़े दुःखी हैं, मुश्किल से तो उनका भोजन बना और वह भी संतुलित सीमित साधारण और खाने बैठे उसमें मक्खी गिर जाय तो उसे भी छोड़ देते हैं, और ये असंयमीजन बड़े सुख में हैं, दो चार बार जैसा चाहें खाते हैं, खेलते हैं, हँसते हैं, कुछ चिन्ता नहीं है। इन संयमीजनों को कहीं जाना पड़े, यात्रा करनी पड़े तो कुछ बर्तन, दाल, चावल, घी अनाज वगैरह कितना ढेर इन्हें संग में ले जाना पड़ता है? ये असंयमी लोग बड़े अच्छे हैं। सीधे यों ही चल दियो। जहाँ भूख

लगी सब जगह मिलता है। पैसा निकाला, खाया पिया चल दिये। इन असंयमीजनों का परिग्रह भी कम है, खाने को साथ नहीं ले जाना पड़ता, तो देखने में कितना फर्क मालूम हुआ, पर रही भीतर शान्ति अशान्ति की बात। उसकी ओर तर्क तो कुछ तथ्य की बात मिलेगी। कोई संयमी गृहस्थ जिसको एक बार ही खाने की आदत है नियम है और निर्दोष रहने का जिसने अभ्यास किया है उसे क्या जरूरत है कि जगह-जगह खिड़कियों से झाँके और कुछ खरीदे खाये। वह तो अपनी जगह बैठा हुआ ही प्रसन्न है। समय गुजरा आगे चल दिया। कौनसा उसे कष्ट हो गया? कष्ट तो चित्त की बात है। जिसकी वांछायें बढ़ी हुई हों, जिसको विषयों का प्रेम बढ़ा हुआ हो वह पुरुष, साधन मिले हों तब भी दुःखी, न मिले हों तब भी दुःखी।

आनन्द के लिये निरीहता का उपाय—दुःख का कारण विषयों का साधन नहीं है। दुःख का कारण विषयों का विकार नहीं है। इच्छा का उत्पन्न होना सो दुःख का कारण है और इच्छा न रहना सो आनन्द का कारण है। सर्वप्रथम करके तत्त्व ज्ञान के द्वारा यह यत्न करें कि हमारी कम से कम इच्छा हों और जो इच्छायें चलती हों उन्हें भी अपना अपराध मानें। उन्हें भी दूर करने का चित्त में भाव रक्खें। सद्बुद्धि का पहरा अपने आत्मा के चारों ओर बना रहना चाहिए। तब यह आत्मा सुरक्षित रहेगा। सद्बुद्धि न रहेगी तो अनेक व्यसन, अनेक पाप, अनेक खोटी वासनाएँ इसके हृदय में घर करेंगी। फिर इसमें मन, वचन, काय सब विडम्बनाओं से लगी हुई प्रवृत्ति होगी। उसमें क्लेश रहेगा अपने आपको संभालें, अपनी ओर दृष्टि दें और अपने को ज्ञानानन्दमय देखकर प्रसन्न रहें तो इस शुद्ध वृत्ति से कर्मों का संवर होता है और पहिले के बंधे हुए कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है। कर्मों का बोझ हटे इसमें ही अपना कल्याण है।

श्लोक-188

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः।

यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः॥188॥

स्वरूपनिश्चलता में परम संवर—जिस समय समस्त कल्पनासमूह को छोड़कर अपने स्वरूप में यह मन निश्चल होकर रहता है उसही समय मुनि के उत्कृष्ट संवर होता है। इस जीव के विभाव का और कर्मों के आने का कैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है—जैसे ही यह जीव रागद्वेष मोह भावरूप परिणमता है उसी समय ये कर्म इस आत्मा में बँधते हैं और उनकी स्थिति और फलदान शक्ति निश्चित हो जाती है और जब ही यह ज्ञानी पुरुष कल्पनाओं को त्यागता है जिनके आधार पर मोह रागद्वेष हुआ करते हैं, कल्पनाओं को त्यागकर

जैसे ही अपने आपके स्वरूप में मग्न हो जाता है, वैसे ही याने उसी समय यहाँ कर्मों का संवर हो जाता है। फिर कर्म नहीं आते।

कर्तव्यस्मरण—भैया ! इस जीव को करने का यही काम उत्कृष्ट पड़ा हुआ है, अपना ज्ञान सही बनाये और अपने ज्ञान को अपने स्वरूप में मग्न कर दे, ऐसा किए बिना जीव का उत्थान नहीं हो सकता। अपराध करने वाला पुरुष यदि अपने अपराध को समझता रहेगा तो ये अपराध कभी दूर भी किए जा सकते हैं। एक अपराधी अपराध भी कर रहा है और अपराध मान नहीं रहा है तो उसका अपराध कैसे दूर हो? ऐसे ही मोह रागद्वेष करने के अपराधों को यदि अपराध समझते रहे, घर में या सम्पदा में हमारा जो प्रीति का परिणाम रहता है यह दोष है, यह कलंक है, मेरा अहितरूप है। मेरा कुछ वास्ता नहीं, ऐसा यदि सही ज्ञान बनाये रहे तो कभी यह अपराध दूर हो जायेगा और कोई अपराध तो माने नहीं, किन्तु परिजन के, वैभव के राग करने को ही एक अपना कर्तव्य समझता रहे, मैं बहुत चतुर हूँ, मैं बहुत महान् हूँ ऐसी ही परिणति बनाये रहे तो उसका यह अपराध कैसे दूर होगा? जब तक अपराध दूर नहीं होता तब तक आत्मा को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। राग के करने में इसे शान्ति कब मिले? कितना ही धन वैभव जुड़ जाय किन्तु इस जीव को चैन तो कभी मिलती नहीं क्योंकि परपदार्थों पर दी हुई दृष्टि विकल्प तरंगे ही उत्पन्न किया करती है। शान्ति का वह मार्ग नहीं है।

प्रभुपूजा स्वरूपस्मरण की प्रयोजिका—हम देव अरहंत सिद्ध को क्यों पूजते हैं? इस कारण कि उनका स्मरण करके हमें यह निश्चय होता है कि करने योग्य काम तो यही है जो इन प्रभु ने किया। बस अपने इस सत्य कर्तव्य के स्मरण में सहायक है प्रभु की पूजा। जब यह मन किसी अन्य प्रकार से अपने आपके स्वरूप में निश्चल हो जाता है उस समय कर्म रुकते हैं। इन कर्मों के निरोध में मुख्य उपाय है संयम, अपने मन को संयमित करें, अपने आचरणों को संयत बनायें तो संयत के प्रताप से कर्म रुकते हैं। अब परमसंवर की महिमा बताते हुए इस प्रकरण में यह अन्तिम छन्द कह रहे हैं—

श्लोक-189

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः। प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः।

अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभिर्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः॥189॥

संवर महावृक्ष—यह संवररूपी महान वृक्ष कैसा है? उसका वर्णन इस छंद में कर रहे हैं, संवर का आख्यान, संवर की विशेषताओं का वर्णन एक वृक्षरूपी रूपक बना करके कर रहे हैं। जैसे वृक्ष होता है तो

वृक्ष में अनेक तो जड़े हुआ करती हैं जिन जड़ों के आधार पर वृक्ष सधा रहता है एक बात। दूसरी बात वृक्ष में तना होता है, जहाँ तक शाखायें न फूटें वहाँ तक का जो मोटा भाग है ऐसा तना हुआ करता है। तीसरी बात वृक्ष में अनेक शाखायें हुआ करती हैं। चौथी बात वृक्षों में फूल हुआ करते हैं और 5 वीं बात वृक्षों में फल लगा करते हैं। ऐसी ही अन्य अनुपम संवर की 5 विशेषताओं को वृक्षों के रूप में बता रहे हैं। संवररूपी महावृक्ष की जड़े हैं समस्त समितियाँ। संवर कहते हैं कर्मों का न आना और अपने भावों का शुद्ध बनाना। इस संवररूपी वृक्ष की जड़ है समितियों का पालन। समस्त समितियाँ इन वृक्षों की मूल हैं। जैसे जड़ें बहुत होती हैं ऐसे ही इस संवरवृक्ष की जड़ ये 5 समितियाँ हैं और इस संवर वृक्ष में संयम का बहुत विशाल तना लगा हुआ है, जिस तने के ऊपर से विशुद्ध भावों की बड़ी-बड़ी शाखायें निकलती हैं और उन शाखाओं में फूल किसके हैं? धर्म के जैसे वृक्ष में फूल हुआ करते हैं। ऐसे ही संवर वृक्ष में धर्म के फूल हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक और इस संवरवृक्ष में फल क्या है? वे फल बहुत पुष्कल दृढ़ और शाश्वत आनन्द के देने वाले हैं। यह संवरवृक्ष बारह भावनाओं से बन्धुर है अथवा बारह भावनाओं के छोटे फलों से बढ़कर आनन्द के महाफल को देने वाला है। यह संवरवृक्ष अपने विपक्ष को जीतने वाला है अर्थात् जहाँ संवर है वहाँ कर्मों का आना नहीं हो सकता।

जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध— सब कर्म जीव के साथ लदे हुए हैं, इसका परिणाम यह है कि जीव के साथ कर्म न लगे होते तो यह जीव नानारूपों में क्यों बनते? आत्मा का तो सबका स्वरूप एक प्रकार है लेकिन कोई आत्मा पशुपर्याय में है, कोई पक्षी पर्याय में, कोई कीट में, कोई नरक में, कोई मनुष्य में और इसमें भी भिन्न-भिन्न तरह की प्रकृतियाँ एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे मनुष्य से नहीं मिलती। यद्यपि अरबों खरबों की संख्या में मनुष्य हैं लेकिन एक की प्रकृति दूसरे से नहीं मिलती। जैसे कि एक मनुष्य की वाणी दूसरे की वाणी से नहीं मिलती। आखिर जहाँ गला होता है वहीं सबका गला है, जहाँ जीभ, नाक है, वहीं सबके जीभ, नाक, दाँत आदि हैं और जिस तरह से बोलना होता है उस तरह से सब बोला करते हैं लेकिन एक की वाणी दूसरे से नहीं मिलती। जैसे कि अक्षर एक के दूसरे में नहीं मिलते। भला बताओ अक्षर वही 33 व्यञ्जन और उनमें 16 स्वर लगे हुए हैं; 14 स्वर होते हैं, दो तो अनुनासिक व विसर्ग होते हैं वे स्वर नहीं हैं किन्तु स्वर के साथ लगा करते हैं तो इतने ही नियत अक्षर हैं और वे अरबों-खरबों मनुष्य उन्हीं अक्षरों को लिखे तो एक के अक्षरों से दूसरे के अक्षर नहीं मिलते हैं। तो ये जब ऊपरी बातें एक की दूसरे से नहीं मिलती तो अनेक विशेषताओं के कारणभूत ये कर्म भी किस एक के दूसरे से क्या मिलेंगे? प्रत्येक संसारी जीव के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म लगे हुए हैं।

कल्याण संवर और निर्जरा का प्रसाद—जो पुरुष कर्मों का क्षय करते हैं वे संसार से पार होकर मुक्त हो जाते हैं और जो कर्मों को बनाते रहते हैं, बढ़ाते रहते हैं वे इस संसारसागर में भ्रमण करते हैं। यह आत्मा अनादि काल से अपने स्वरूप को भूला चला आ रहा है, इसी कारण नाना प्रकार के कर्म इसके बंधते रहते

हैं। लेकिन जब यह अपने स्वरूप का पहिचाननहारा बने और स्वरूप को जानकर इस ही निजतत्त्व में लीन हो तब फिर इसके कोई विपदा नहीं रहती। कर्मों का आना बन्द हो जाता है और बंधे हुए कर्म भी झड़ जाया करते हैं और इस संवर और निर्जरा के प्रसाद से ये सर्व प्रकार से सर्वमलों से मुक्त हो जाते हैं। वह संवर भाव कैसे मिले? उसके लिए संक्षेप में इतना ही समझना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र बनने पर यह संवर प्रकट हो जाता है। जहाँ इसकी पूर्णता हो जाती है, एकता हो जाती है वहाँ पूर्ण संवर प्रकट होता है।

सुधार के अवसर को न खोने का अनुरोध—विषयों से कषायों से हम आपकी विजय नहीं हो सकती, उसमें क्लेश ही क्लेश आयेंगे। इस कारण इन विषयों से कुछ विराम लें और अपने स्वरूप की खबर लें। इस रागद्वेष मोह से कषायों से भ्रमों से इस जीव का अकल्याण ही है। हम जब भी चेतें तभी भला है और यदि अभी नहीं चेतते हैं, जो अवसर मिला है सुधार का, इस अवसर का लाभ न उठा पाये तो आगे क्या आशा की जा सकती है। मान लो मरकर कीड़ा-मकौड़ा बन गए तो फिर क्या रहा इसका? यहाँ तो यह मनुष्य अपने वैभव पर नाज करता है। अपने यश पर, अपने परिजन समूह पर गर्व करता है और मरने के बाद कीड़ा-मकौड़ा बन गये, पेड़-पौधे हो गये, कहाँ गर्व रहेगा? ये समागम रमने के लिए नहीं हैं। बुद्धिमान् गृहस्थ तो इस समागम का भी उपयोग जैसे अपना मोक्षमार्ग चल सके, उसमें बाधा न आये उस प्रकार करता है, एक ही लक्ष्य हो जो प्रभु ने मार्ग अपनाया वही मुझे अपनाना है तब कल्याण है।

निर्जरा भावना

श्लोक-190

यथा कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः॥190॥

निर्जरणभूमिका—जिस निर्जरा के द्वारा कर्म नष्ट कर दिये जाते वह निर्जरा मोक्ष में ले जाने वाली निर्जरा है ऐसा संयमी पुरुषों ने कहा है। ये कर्म जन्म मरण कराने के कारणभूत हैं। इन कर्मों से हम आपमें बड़ी विचित्रता उत्पन्न हो जाती है। एक समान नहीं रह सकते हम आप। कभी किसी तरह की कल्पनाएँ जगती हैं, कभी किसी तरह की और उन्हीं कल्पनाओं से यह जीव बेचैन रहता है। भला बतलावो यह समस्त लोक कितना बड़ा है? कितना बड़ा तो अधोलोक और कितना विशाल ऊर्ध्व लोक और कितना विशाल अन्य समस्त स्थावर लोक? सब कुछ मिलाकर 343 घनराजू प्रमाण लोक बनता है। इतने बड़े लोक में आज जितनी जगह का हम आपको परिचय है? यह समुद्र की एक बूँद बराबर जगह है। इतनी सी जगह का ममत्व करके कौनसी सिद्धि पा लेगा यह जीव?

जीवन की विनश्वरता का प्रत्यय—भैया ! जीवन है जल के बबूले की तरह। जैसे ऊपर से जल गिरने से बबूला बन जाता है तो वह कितनी देर ठहरता है? क्या यह बबूला बना रहने के लिए बना है। वह तो मिटेगा। क्या हम आपका यह जीवन जीवन बना रहने के लिए बना है? यह तो मिटेगा। और ये सब मिटने की ही तो निशानी हैं। बढ़-बढ़कर जवानी निकल गयी, बुढ़ापा आ गया और वह भी बहुत जल्दी से बढ़ रहा है। तो ये सब बातें जीवन न रहेगा इसी के ही तो संकेत हैं और संकेतों का क्या प्रयोजन? आँखों देखते तो रहते हैं, कितने ही लोग मरते हैं पर फिर भी इन मरने वालों को देखकर भी समझ नहीं आ पाती, यह कितने खेद की बात है।

तद्भवमरण के अवबोध का दृढ़ीकरण—कोई शराब पीने वाला व्यक्ति शराब बेचने वाले की दुकान पर जाय और वह दुकानदार से कहे देखो मुझे बहुत बढ़िया शराब देना तो वह विश्वास देता है। हाँ हमारे पास बहुत बढ़िया शराब है।...अजी नहीं, अमुक शराब देना। हाँ हाँ वही है। नहीं बहुत बढ़िया देना। तो वह दुकानदार कहता है हमारे यहाँ बहुत ही अच्छी शराब है। इसका प्रमाण यह है कि देखो मेरी दुकान पर दसों आदमी शरीर बेहोश पड़े हुए हैं। बेहोश पड़े हुए लोगों को देखकर भी उसकी शराब का विश्वास नहीं हो रहा है कि

वहाँ बहुत बढ़िया शराब मिलेगी। यों ही यहाँ हम आप सभी देख तो रहे हैं कि ये अनेक लोग मर रहे हैं, पर अपने बारे में सही विश्वास नहीं बना पाते कि इसी तरह हमें भी मरना है।

निर्जराभाव का उत्सहन—भैया ! मर कर के कहाँ पैदा हो गए, फिर यह परिचय वाली जगह इसके लिए क्या रहेगी? तो कितने से परिचय के साधनों में ममत्व किया जाय, कितने से परिचित लोगों के लिए अपना समस्त संयम बिगाड़ दिया जाय? यहाँ कुछ भी सारभूत बात नहीं है। इस जीव पर कर्मों का भार लदा है यही तो बड़ी विपदा है। उस विपदा को दूर करने का यत्न करना है। ये समस्त कर्म जन्म-मरण के कारणभूत हैं। इन कर्मों को संयमी पुरुष ही दूर किया करते हैं। जिनके बन्धन गल गए हैं, जिनके कर्मों की निर्जरा चल रही है ऐसे ऋषि संतों ने यह रहस्य बताया है कि शुद्ध तत्त्व का आदर करें और निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञान को मग्न करें तो यह निर्जरा तत्त्व प्रकट होगा और निर्जरा से ही यह जीव हल्का होगा, भाररहित बनेगा और सर्वकर्मों से मुक्त होकर फिर अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभाव के कारण लोक के शिखर पर जा विराजमान् होगा।

श्लोक-191

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम्।

निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम्॥191॥

निर्जरा के प्रकार—निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा। इनमें से सकामनिर्जरा तो मुनियों के होती है और अकामनिर्जरा समस्त जीव के होती है। सकामनिर्जरा के समय में जो कर्म झड़ा दिये जाते हैं अपने व्रत तपश्चरण के द्वारा आध्यात्मिक आचरण के बल से वह सकामनिर्जरा है और अपना समय पाकर जो कर्म झड़ते रहते हैं वह अकामनिर्जरा है। इसही का नाम उदय है। जो कर्म आये हैं बंधे हैं वे तो उदय में आ गए। भक्त कर्मों के उदय से न घबड़ाने के लिए यह चिन्तन करता है कि जो कर्म बंधे हैं वे तो भुगतने ही पड़ते हैं, आये हैं कर्म और उनके उदय में मिली है विपदा तो घबड़ायें तो भी हम छूट नहीं सकते विपदा से और न घबड़ायें तो इस बाह्यपरिणतिरूप विपदा से छूट नहीं सकते। जैसा वर्तमान में उदय है वह मिल रहा है, लेकिन धैर्य यदि होगा तो वह विपदा कम हो जायेगी और आगे विपदा से छुटकारा हो जायेगा। धैर्य न होगा तो वह विपदा कई गुणित हो जायेगी और आगे भी ऐसी विपदायें आती रहें, इसका विनिश्चय हो जायेगा। तो हम विपदाओं से घबड़ायें नहीं।

विपदाओं की कल्पना और संहति—भैया ! विपदायें है ही क्या? कल्पनाओं से मान लिया। मान लो वैभव कम हो गया तो आत्मा पर क्या विपदा आयी? मान लो मरण हो गया, इस देह से छूटकर इस आत्मा को जाना पड़ा तो इस आत्मा पर क्या विपदा आयी? यदि यह आत्मा अपने स्वरूप का भान बनाये रहे, अपने ज्ञान में अपना यह ज्ञानानन्दस्वरूप बना रहे तो इसको तो कहीं विपदा ही नहीं है। यहाँ न रहे दूसरी जगह चले गए, क्या हो गया इस पर कुछ विपदा नहीं विपदा तो कल्पनाएँ करती हैं और मोह से विपदा बना डालते हैं। सर्वसंकटों के मिटाने का यही मूल उपाय है कि हम अपना शुद्ध ज्ञान बनायें और अपने आत्मा के इस सहज सत्य स्वरूप रूप ही अपनी प्रतीति करते रहें। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करें तो सर्वसंकट स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे।

श्लोक-192

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा।

तथाऽत्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः॥192॥

द्विविध निर्जरा—कर्मों की निर्जरा 2 प्रकार की होती है—एक तो स्वयंनिर्जरा और दूसरी सोपायनिर्जरा। जैसे आम आदिक फल दो तरह से पका करते हैं—एक तो स्वयं अपना समय आने पर डाल में पक जाते हैं और एक कच्चे फलों को तोड़कर भुस या पत्तों में दबाकर पकाया जाता है। जो अपने समय में खुद पक जाते हैं उन्हें कहते हैं स्वयंपाक और जो भुस पत्ते आदिक में दबाने के उपाय से पका करते हैं उन्हें कहते हैं सोपायपाक। जैसे वृक्ष के फलों का पकना एक तो स्वयं होता है और दूसरा पाल देने से भी होता है, इसही प्रकार कर्मों का पकना भी एक तो कर्मों की स्थिति पूरी होने पर स्वयं होता है अर्थात् कर्म अपने समय पर अपना फल देकर खिर जाया करते हैं और दूसरी प्रकार की निर्जरा यह है कि सम्यग्दर्शन आदिक परिणामों से सहित तपश्चरण किये जाने से जो कर्म नष्ट होते हैं, खिरते हैं वह है सोपायनिर्जरा।

निर्जराओं की विशेषता—स्वयं निर्जरा तो सभी जीवों के हो रही है। संसार के सभी प्राणी अपने परिणामों से कर्मों का बन्धन करते हैं और उन कर्मों में कषायों के अनुसार जितनी भी स्थिति पडी है उस स्थिति के पूर्ण होने पर फल दिया करते हैं। ऐसा तो सभी जीवों के संसारियों के लग रहा है उसे उदय कहते हैं। इस स्वयंपाक रूप निर्जरा से जीव का हित नहीं है, वह तो फंसाव का कारण है। इसका फल होगा कि उस काल में अनेक नवीन कर्म और बंध जाते हैं। उससे आत्मा की कुछ सिद्धि नहीं होती। किन्तु तपश्चरण, ज्ञानदृष्टि, तत्त्वमरण, आत्ममग्नता आदिक उपायों से जो बहुत काल आगे उदय में आने थे उन कर्मों का

स्थिति खण्डन करके अभी ही एकदम खिरा दे, चाहे उनका कुछ फल मिलकर खिरे और चाहे कुछ भी फल मिले बिना खिरे, वह सोपायनिर्जरा कहलाती है। इस सोपायनिर्जरा से मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

कर्मविदारण की शक्यता—एक ऐसी कहने की रूढ़ि है कि जो कर्म बांधे हैं उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा पर बात पूरे नियम से यह नहीं है कि जो कर्म बांधे हैं उन्हें भोगना ही पड़े। प्रायः करके भोगना ही पड़ता है, पर कोई ज्ञानी संत पुरुष तपश्चरण, संयम, सम्यक्त्व अन्तःरमण के प्रसाद से कर्मों को बिना फल दिये भी खिरा सकते हैं। कोई नियम नहीं लेकिन जिनको कर्म भोगने ही पड़ते हैं ऐसे जीव हैं अनन्तानन्त। उन अनन्तानन्त जीवों में से यदि 10-5 जीव ऐसे निकल आयें कि जो सम्यक्त्व, संयम, तपश्चरण आदिक के प्रभाव से कर्मों को नष्ट कर दें, बिना फल दिये खिरा दें तो वे कितनी गिनती के हैं। इस कारण यह कहा जाता है कि जिसने जो कर्म बांधे हैं उसको वे कर्म भोगने ही पड़ते हैं पर यह नियम की बात नहीं रही। सम्यक्त्व में, चारित्र में ऐसा प्रताप है कि कर्मों को बिना फल भोगे ही खिराया जा सकता है। इस प्रकार जो कर्म खिरा करते हैं उस निर्जरा का नाम है सोपायनिर्जरा।

सोपायनिर्जरा से लाभ—उपाय करके कर्मों को खिरा देना, इसमें सिद्धि है, आत्मलाभ है, किन्तु जो स्वयंपाक है समय आने पर झड़ गया, फल देकर खिर गया ऐसी स्वयंपाक निर्जरा से आत्मा को सिद्धि नहीं है। बारह भावनाओं में यह निर्जरा भावना का प्रकरण है। स्वयंपाक निर्जरा से क्या लाभ है? उसमें तो सभी जीव बंधे हुए हैं, पर सोपायनिर्जरा का स्वरूप साधन यत्न सोचा जाय तो इस निर्जरा से लाभ है।

श्लोक-193

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम्।

यद्वत्तथैव जीवेन तप्यमानस्तपोग्निना॥193॥

विशुद्धि का उपाय—जैसे मलसहित सोना, किट्ट कालिमा से भरा हुआ सोना अग्नि में तपाने से विशुद्ध हो जाता है, दोषरहित निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार कर्मों से दोषों से सहित यह जीव कर्मरूप तप में तपाने से विशुद्ध और निर्दोष हो जाता है। तपश्चरण का और संयम का बहुत माहात्म्य है। प्रायः आजकल के मनुष्यों ने संयम तपश्चरण कष्टसहिष्णुता इनकी तिलांजलि दे रक्खी है, पर यहाँ लाभकारी प्रथा नहीं है। धनोपार्जन के लिए तो कितने ही कष्ट सह लें, वहाँ कुछ विचार नहीं करते, किन्तु किसी धर्मलाभ के लिए, ज्ञानार्जन के लिए या किसी धर्मप्रसंग में कुछ समय लगाना पड़े, कुछ त्याग करना पड़े तो उसके लिए इसे प्रमाद आता है। कष्ट नहीं सहा जाता है।

धर्महेतु कष्टसहिष्णुता में लाभ—भैया ! धर्महेतु कोई कष्ट न सहे तो जितना कष्ट सह लेना चाहिए था, उससे कई गुना कष्ट उसे सहना पड़ेगा। जैसे उदाहरण में ही ले लो। 8 दिन में एक दिन एकासन करे कोई सिर्फ एक बार ही तो न खाये एक ही बार खा ले, इतना कष्ट एक नियम पूर्वक सहता जाय या 8 दिन में एक दिन के उपवास का कष्ट ही सहता जाय तो उसके शरीर की गाड़ी अच्छी तरह चलती जायेगी। न सहे कष्ट तो वर्षभर में एक महीना लगातार बीमार हो गए तो हिसाब लगा लो बराबर कष्ट पड़ गया या नहीं अथवा उससे कई गुना कष्ट हो गया या नहीं। कितना ही ऐसी विपदाओं की संभावना रहती है कि अकस्मात् ही बैठे खड़े विपदा आ जाय किन्तु ऐसी अनेक विपदाएँ उनके दूर रहती है जिनका चित्त धर्म की ओर लगा रहता है और नित्य नियम से रहकर भक्ति के समय भक्ति और जाप के समय जाप, इस प्रकार समय व्यतीत करते हैं, उनके अनेक विपदायें दूर हो जाती हैं अथवा आती ही नहीं हैं। तो संयम और तपश्चरण का माहात्म्य बहुत है। इसलिए अपनी शक्तिपूर्वक धर्म करना चाहिए।

तपश्चरण से विशुद्धि—स्वर्ण मलिन भी हो तो अनेक बार अग्नि का संताप सहने से वह निर्दोष हो जाता है। ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय के विषयों के भावों से मलिन यह जीव कषायों की वासनाओं से संबद्ध रहने वाला यह जीव अनेक धर्माचरण और तपश्चरण को करे तो इसकी अनेक वासनाएँ खोटी वृत्तियाँ यों ही दूर होती रहती हैं। संयम से प्रीति करना, तपश्चरण का शान्तिपूर्वक साधना करना, एक आत्मरक्षा के लिए यदि कुछ शारीरिक कष्ट सहन करना पड़े और अपने आत्मा में एक विशुद्ध आनन्द अथवा निर्दोष प्रयत्न आये तो वह कष्ट क्या कष्ट है? यह सदोष भी जीव तपश्चरण प्रताप से निर्दोष हो जाता है तभी तो गृहस्थधर्म में गृहस्थों को धर्म के प्रसंग में ऐसे कर्तव्य बता दिये कि जिनमें ये लगे रहें और साधुओं को ऐसे कर्तव्य बता दिये कि साधु उनमें लगे रहें ताकि कोई खोटी वासना खोटे विचार न उत्पन्न हों।

आत्मलाभ का कर्तव्य—धर्मचर्या के काम गृहस्थों को भी 6 प्रकार से बताये हैं। गृहस्थों को बताया कि वे प्रभुपूजा में अपना कुछ समय लगायें और गुरुओं की सेवा में, वैयावृत्ति में कुछ समय लगायें, कुछ स्वाध्याय में समय दें, कुछ संयमपूर्वक आचरण करने में समय दें, तपश्चरण भी करें और कुछ दान भी करते रहें, ये 6 प्रकार के काम गृहस्थियों को बताये। कोई करे, तो उस वातावरण से आत्मलाभ ले सकता है और न करे तो लाभ कहाँ से मिलेगा? सूर्य का काम तो एक प्रकाश कर देना भर है। अब सुबह कोई उठे और खुद चले तो यह उस पुरुष का काम है। जैसे किसी को 4-6 मील कहीं जाना है तो सूर्य तो न चला देगा। सूर्य तो एक मार्गदर्शक हो गया, प्रकाशक हो गया। अब जगने वाले जगें और चलने वाले चलें यह तो उनका काम है। ग्रन्थों में वीतराग ऋषि संतों ने करुणा करके सब मार्ग बता दिया है, अब उस पर चलना यह चलने वाले का काम है। इतनी बात अवश्य निर्णय में रखना कि इस शरीर को सुखिया बनाकर रखने में लाभ तो रंच भी नहीं है, हानियाँ अनेक हैं। इस शरीर को अपने लिए संयम, भक्ति, आराधना आदिक कार्यों में लगायें और

दूसरों के लिए उनका दुःख दूर करना, उन्हें स्थिर करना, मार्ग के वचन बोलकर उन्हें मार्ग में लगाना, इन सब उपायों से दूसरों का उपकार करें। अपने शरीर को सुखिया बनाकर न रक्खें।

कर्तव्यपरायणता की दृष्टि—कोई यह सोचता हो कि शरीर से कुछ काम कर लेने से या दूसरों का काम कर देने से यह शरीर दुर्बल हो जायेगा। दुर्बल नहीं होता बल्कि बैठे रहने से और अनेक ईर्ष्या विकार के भाव आने से शरीर भी दुर्बल हो जायेगा। समाज में रहकर घर में रहकर लोग ऐसी ईर्ष्या रखते हैं—महिलायें परस्पर में ऐसी ईर्ष्या रखती हैं कि वाह घर में हम इतना काम करती हैं, यह दूसरी स्त्री वहाँ बैठी ही रहती है, अरे बैठी रहने वाली महिला ने कितना बल बढ़ा लिया, कितना लाभ ले लिया और काम करने वाली महिला की क्या हानि हो गयी, बल्कि बैठी रहने वाली महिला ने व्यर्थ में समय खोया। रही कर्मबन्धन की बात सो यह तो अपने-अपने भावों के अनुसार चल ही रहा है। कोई बैठे ही बैठे बुरे कर्म बाँध सकता है, कोई अनेक परिश्रमों में रहकर भी कर्मों का बंध कम कर सकता है। जीव को संयम के आचरण में और कष्ट के सहने में उत्साह वाला रहना चाहिए। हमारे आत्मा की उन्नति आत्मा में प्रताप व प्रभाव हो यह संयम तपश्चरण तथा सम्यक्त्व पर आधारित है।

श्लोक-194

चमत्कारकरं धीरैर्वाह्यमाध्यात्मिकं तपः।

तप्यते जन्मसन्तानशङ्किः कतैरार्यसूरिभिः॥194॥

तपश्चरणों का चमत्कार—जो संसार के जन्म-मरण से भयभीत हैं, अपने आत्मा के और परपदार्थों के यथार्थस्वरूप की जानकारी पा लेने से जो धीर हैं ऐसे मुनीश्वरगण बाह्य तप और आभ्यंतर तप से तपा करते हैं। उनका यह निर्णय है कि भव-भव में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा का उपाय एक तपश्चरण है, इच्छानिरोध है विकारों को न आने देना है। यही एक बड़ा परम तपश्चरण है। ऐसे तपश्चरण से ही कर्म कटते हैं। यह तपश्चरण लोक में भी चमत्कार उत्पन्न करता है और अपने आत्मा में भी चमत्कार उत्पन्न करता है। आत्मा में शान्ति आना, आनन्द बढ़ना, आत्मशक्ति प्रकट होना, विशुद्ध जानकारी होना, यह सब आध्यात्मिक चमत्कार है और लोक में दूसरे पुरुष भी इस तपस्वी को देखकर धर्म के लिए आकर्षित हों, यही है जीवों पर चमत्कार।

अनशन तप—6 प्रकार के बाह्य तप होते हैं उनमें प्रथम तप है अनशन करना, उपवास करना। अनशन का अर्थ है अनशन का त्याग करना, भोजन न करना और उपवास का अर्थ है उप मायने समीप में वास मायने

रहना। अपने आत्मा के निकट रहने का नाम है उपवास। तो अनशन और उपवास—ये दोनों मिलेजुले रहा करें उसका नाम है प्रथम तप। केवल आहार का त्याग करने से तो वह लाभ नहीं मिलता। विषय, कषाय और आहार तीनों का त्याग होना उसे उपवास कहते हैं।

ऊनोदर तप—दूसरा तपश्चरण है ऊनोदर। इसका दूसरा नाम है अवमादेर्य। ऊन मायने कम, उदर मायने पेट। भूख से कम खाना सो ऊनोदर तप है। जैसा कठिन अनशन तप है इतना ही कठिन यह ऊनोदर तप है। ऐसा पुरुष कौन गम खाता है कि खाते समय में सब साधन होने पर भी आधा खाये और छोड़ दे। कोशिश तो लोग दूनोदर करने की करते हैं। वह तो खाया नहीं जाता, इसलिए छोड़ना पड़ता है तो इसमें भी अभी निरोध की बात आयी। जिस बालक का खेल में चित्त है उसे जबरदस्ती खिलाओ तो भी तो थोड़ा खाकर झट भाग जाता है। वह बालक पूरा खा नहीं पाता है क्योंकि चित्त में खेल धरा है। खाना तो उसके चित्त में ही नहीं है। आधा पेट खाया और झट भाग गया। ऐसे ही जिसकी धुन में आत्मस्वरूप की दृष्टि है, आत्मा का खेल जो खेल रहे हैं। ऐसे साधु बालक को भी भरपेट खाने की खबर नहीं रहती। कुछ थोड़ा पेट भरा हो और चल दिया। तो ऊनोदर तपश्चरण में भी कुछ योग्यता चाहिए तब बन सकता है।

वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्तशैयासन व कायक्लेश तप—भोजन के समय अटपट आखिड़ी लेना और आहार की विधि मिलने पर भोजन करना अथवा कम करना, न करना यह सब व्रतपरिसंख्यान हैं रसों का परित्याग करना रसपरित्याग है। यह भी महातप है। लोग तो किसी भी दिन किसी भी रस की कमी क्यों आये, व्यवस्था बनाये रहते हैं और ये ज्ञानीपुरुष जान समझकर रसों का त्याग करते हैं अथवा रसों की ओर से उपेक्षा रखते हैं। एकान्तस्थान में सोना बैठना रहना, जहाँ बहुत से लोग हों, जन-सम्पर्क हो वहाँ न बसकर खाली जगह में बसना, जहाँ केवल यही यही है और वहाँ आनन्द मानना यह भी तपश्चरण है। सर्दी गर्मी के दुःख समतापूर्वक सहें किन्तु अपने आत्मा के आचरण में कमी न आने देना यह कायक्लेश तप है। इस तपश्चरण के द्वारा शुद्धस्वरूप में चमत्कार उत्पन्न करता है और लोक में भी दूसरों का धर्म की ओर आकर्षित होता है।

अन्तरङ्ग तप—ऐसे ही अन्तरङ्ग में 6 प्रकार के तप हैं। अपराध हो जाने पर उसका दण्ड लेना ताकि पुनः यह अपराध न हो। यह प्रायश्चित्त तप है। अपने आपको विनय में रखना, इसमें मानकषाय नहीं उत्पन्न होती वह विनय है। ज्ञानी पुरुषों की सेवा करना वैयावृत्य है। आत्मकल्याण की भावना से स्वाध्याय करना तप है और शरीर से भी, समग्र परवस्तुओं से भी ममता त्यागना तप है। ऐसे इन अनेक तपश्चरणों को करके साधुजन कर्मों का क्षय किया करते हैं। कर्मक्षय का यही उपाय है कि हम सब भी यथाशक्ति संयम और तपश्चरण का आचरण करें।

श्लोक-195

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम्।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम्॥195॥

तप के प्रकार—कर्मों का क्षय तपश्चरण से होता है। जो मनुष्य तपश्चरण में नहीं लगते अपनी शक्ति माफिक, उनका चित्त विषय कषायों में लगेगा। दो ही तो बातें हैं—या खोटी और चित्त लगे या तपश्चरण की ओर चित्त लगे। तपश्चरण से ही कर्मों की निर्जरा हो सकती है और उन तपश्चरणों में से 6 तो होते हैं बहिरङ्ग तप जो दूसरों को दिख सकते हैं और जो दूसरे द्रव्यों के सम्बन्ध से होते हैं, जिन्हें दिखावटी धर्मवेशी भी कर सकते हैं, वे बहिरङ्ग तप हैं और जो अपने अन्तरङ्ग के भावों से उठते हैं वे अन्तरङ्ग तप। अन्तरङ्ग तप 6 हैं—प्रायश्चित्त करना—कोई दोष हो जाय तो उन दोष का पछतावा करना, विनय रखना, दूसरों की वैयावृत्ति करना, स्वाध्याय करना, कायोत्सर्ग करना और ध्यान करना ये सब अन्तरङ्ग तप हैं। ये सब आत्मा के अधीन हैं और अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसत्याग, विविक्तशैयासन और कायक्लेश, ये बहिरङ्ग तप हैं। ये परमागम में 6 प्रकार के तप कहे गए। इन सब तपों को भली प्रकार से तो साधु पालते हैं और गृहस्थ भी अपनी शक्ति के अनुसार इस तप का पालन करें।

श्लोक-196

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा॥196॥

निर्वेदसिद्धि के द्रव्यचिन्तन—प्रथम तो कल्याणार्थी को इस ज्ञान का यत्न करना चाहिए कि दिखने वाले पदार्थ क्या हैं और मैं क्या हूँ? आत्मा और अनात्मा में, स्व में और गैर में जिनका प्रसंग बना है ऐसे आत्मा व अनात्मा का सच्चा बोध जब तक नहीं होता तब तक कल्याण की उत्सुकता नहीं हो सकती। इसको भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से देखो। द्रव्यदृष्टि से ये सब परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं। यह दृष्टि लगाई जा रही है आत्मा और अनात्मा के विवरण में। एक एक चीज में नहीं। यह आत्मा और अनात्मा द्रव्य से जैसे परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं उस तरह दृष्टि में रहना चाहिए।

क्षेत्रदृष्टि से आत्मा व अनात्मा का चिन्तन—क्षेत्रदृष्टि से आत्मा और अनात्मा ये सब तीनों लोकों में भरे पड़े हैं। मेरी भी गति तीन लोक में है और अनात्मपदार्थ की भी गति तीनों लोक में है। कभी किसी सुयोगवश कहीं समागम मिल जाता है, कभी कोई समागम मिले कभी कोई समागम मिले तो यों समागम मिलते रहते हैं और समागम तीनों लोक में कहीं भी मिल जायें। जब यह आत्मा निगोद अवस्था में रहा तो वहाँ भी इन कर्मों का सम्बन्ध था। शरीर तो साथ था ही। और जो कुछ जो भी शरीर में ग्रहण करना था वह आहार भी था। शरीर वर्णनायें भी होती हैं। तो क्षेत्रदृष्टि से ये आत्मा और अनात्मा कर्मोदयवश तीनों लोक में 343 घनराजू प्रमाण लोक में सब जगह मिले और बिछुड़े। क्षेत्रदृष्टि से यों देखा।

कालदृष्टि से आत्मा व अनात्मा का चिन्तन—कालदृष्टि से यह आत्मा भी अनादि से है और ये कर्म भी अनादि से हैं। हम आपने कितने कष्ट सहे, कितने समय तक कहाँ क्या किया? यह बताने की कोई साधन सीमा नहीं है। अनादि से कष्ट सहते आये हैं और उन्हीं कष्टों के सहने की आदत बनी है। राग में कष्ट होता है पर उस राग से कष्ट को ही आनन्द मानकर यह जीव कष्ट नहीं समझता और उस कष्ट में बना रहता है। इस जीव पर सबसे बड़ी विपदा परपदार्थों की ओर आकर्षण करने की है। क्या चाहता है यह जीव? जो चाहता है मान लो हो गया सब। यह चाहता है कि लोगों से हमारा कुछ सम्बन्ध रहे, ये महल, मकान खड़े हो जाँ। वह चाहता है पञ्चेन्द्रिय के विषयों के साधन हमारे विशेष रहें। सब हो गया। सब हो जाने के बावजूद भी इस जीव के साथ क्या लगता है। और ऐसा क्या भव-भव में नहीं हुआ? सब जगह होता आया पर यह जीव एक इसी भव में इसी भव को उन बातों के लिये फालतू मान ले याने यही यही काम समागम बेकार के काम भव-भव में चलते आये तो एक भव को हम समागम और बेकार के विकल्पों से रहित बनाकर अपने को अकिञ्चन जानकर अपने आपमें गुप्त रहकर धर्मपालन कर लें तो इसका उद्धार हो जायेगा।

आत्मसेवा का चिन्तन—मैं दुनिया के लिए कुछ नहीं हूँ, मैं दुनिया में कुछ नहीं हूँ, मैं जो हूँ अपने लिए हूँ, मुझे कोई जानता नहीं और जिसे जानता है कोई वह जानन मेरा नहीं और हमारा भी हो कोई, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं है, कोई जाने कोई प्रशंसा करे कोई यश गाये, कोई कुछ भी करे तो उससे इस आत्मा को लाभ कुछ नहीं होने का है। मैं तो सबसे गुप्त हूँ, सबसे निराला हूँ। इस निराले अपने आपकी ओर नहीं झुके इस वजह से हम आप इतना स्वरूप से भ्रष्ट रहे कि नाना विकल्पों को जिस चाहे को विषय बनाकर खेद पाते रहे। है इतनी हिम्मत? होनी चाहिए इतनी हिम्मत, किसी भी समय हम इस सारी दुनिया को अपरिचित जानकर मेरे लिए चाहे कोई कुछ कहे, भला कहे बुरा कहे, यश हो अपयश हो, न नाम हो, कुछ भी स्थिति गुजरे, दुनिया में यह मैं आत्मा अपने आपके घर में स्वरक्षित बैठ सकूँ, विश्राम ले सकूँ ऐसा कोई गुप्त यत्न करे तो उसकी महत्ता है। इस काम के बिना अज्ञानी का तो सारा जीवन कुछ जीवन नहीं है। यह निर्जरा के लिए उद्यमी पुरुष वैराग्य की पदवी को प्राप्त करके जैसे जैसे तपश्चरण करता है वैसे ही वैसे दुर्गम कर्मों का क्षय करता है, इसके लिए प्रथम चाहिए आत्मा अनात्म का ज्ञान।

भावदृष्टि से आत्मा व अनात्मा का ज्ञान—भावदृष्टि से आत्मा अनात्मा की इस गड़बड़ी की क्या स्थिति है? यह इतने निकट रहकर भी आत्मा अपने स्वभाव में है। स्वभाव परिवर्तन नहीं होता। स्वभाव परिवर्तन त्रिकाल भी हो नहीं सकता, यह वस्तु का स्वरूप है, इसको ही बताने वाला धर्म है जैनधर्म। यही वस्तु धर्म है। वस्तुधर्म को कोई जाने तो क्या, न जाने तो क्या, वस्तुधर्म कभी नहीं मिटता। इस जैनधर्म के मर्म के पहिचानने वाले न रहें तो भी मर्म मिटता नहीं है। पहिचानने वाले हों तो वे अपना उद्धार कर लेते हैं। समस्त पदार्थों में उनका जो स्वभाव है, स्वरूप है वह स्वरूप एक का अन्त में त्रिकाल नहीं प्रवेश होता। हम ही कल्पनाएँ करके अपने स्वभाव से चलित होकर बाह्य में दृष्टि फँसाकर दुःखी हुआ करते हैं, कल्पनाएँ बनाया करते, वह हमारी मुग्धता है। पर भावदृष्टि से देखो तो आत्मा और अनात्मा ये दोनों अपने-अपने स्वरूप में हैं ऐसी दृष्टि की साधना जिस समागम में बने, उस समागम का आदर होना चाहिए। आभार मानना चाहिए।

निकट में धर्म के वातावरण की आवश्यकता—धार्मिक वातावरण का समागम घर का ही बन जाय, घर के ही बालक, घर की ही स्त्री, घर के ही पुरुष सब इस रंग में रंग जायें, संसार, शरीर, भोगों के यथार्थ स्वरूप को जानकर उनसे विरक्ति के परिणाम में रंगे खुद हो जायें ऐसा घर का समागम बने, वह भी समागम बहुत अडिग लाभ करने वाला है। बाहरी समागम किसी ज्ञानी विद्वान का मिले वह तो थोड़े समय का है किन्तु घर का ही वातावरण इस रंग में शक्ति अनुसार रंग जाय कि सब धर्म के प्रेमी बनें तो उस वातावरण का अधिक असर रहता है।

स्वाधीन महान् कार्य—भैया ! धर्मपालन में लगना, धर्मबाधाओं पर विजय पाना यह सब ज्ञानसाध्य है। एक जगह गुणभद्रस्वामी ने लिखा है कि हे मुने ! यदि तुममें बहुत तपश्चरण करते नहीं बनता तो मत करो क्योंकि तुम सुकुमार हो, तपश्चरण करने में समर्थ तुम्हारा शरीर नहीं है, लेकिन जो बात श्रम में नहीं होती, शारीरिक क्लेश से नहीं होती, किन्तु केवल चित्तसाध्य है अपने एक सोचने के द्वारा ही काम बनता है उस काम को भी यदि नहीं कर सकते तो इससे बढ़कर और अज्ञानपन क्या कहलाये? वह क्या काम है जो केवल सोचने के द्वारा ही काम बन जाता है। लोग कहते हैं कि चिन्तामणि रत्न ऐसा होता है कि समीप में हो तो जो सोचो सो सिद्ध हो जाता है, और यहाँ भी स्वाधीनता की बात कह रहे हैं। केवल सोचने के द्वारा ही काम बन जाय, ऐसा काम यदि नहीं किया जा सकता तो इससे बढ़कर और अज्ञता क्या होगी? तपश्चरण नहीं करते बनता मत करो। क्या है वह चित्तसाध्य कार्य, क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषाय बैरियों पर विजय पा लेना केवल एक सोचने के द्वारा साध्य है। कषायों का मिटना हाथ पैर के कार्यों द्वारा साध्य नहीं है। कषायों का मिटना बड़े-बड़े शारीरिक तपश्चरणों के द्वारा साध्य नहीं है। हाँ ये तपश्चरण एक हमारे उपयोग को बदलने के साधन होते हैं। पर साक्षात् जो कषायों पर विजय पायी गई है। तो जो चीज मात्र हमारे सोचने के द्वारा ही साध्य है वह काम नहीं किया जा सकता तो यह तो एक अज्ञान का ही काम है। गुणभद्रस्वामी ने तपस्वी मुनियों को समझाया है, इस प्रकार के तपश्चरण न करते बने, मत करो क्योंकि तुम

सुकुमार शरीर के ही लेकिन ज्ञानस्वरूप का विचार ध्यान के द्वारा जो बड़ी से बड़ी बात बनती है, जो खास पुरुषार्थ है, मोक्ष में ले जाने का साधन है वह कार्य न बन सके तो यह तुम्हारी अज्ञता की बात है।

ज्ञानरूप साहस का कर्तव्य—कितना स्वाधीन यह कल्याण का काम है। इसमें ज्ञान का साहस चाहिए। शरीर भी दुर्बल है, वृद्ध है वह भी बाधक नहीं है हमारे इस मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ में। अज्ञान बाधक है। यह आत्मा अपने ही प्रदेशों में रहता हुआ कल्पनाएँ किया करता है। यह मेरा है, यह भला है, इसमें हित है, इसमें ही बड़प्पन है, इसमें ही कुल चलेगा, इसमें ही नाम चलेगा आदिक केवल अपने भीतर ही बैठे बैठे कल्पनाओं से यह वेदना मोल ले ली है और यही अपने आपमें ही विराजे हुए अपनी ओर ही झुककर यह मैं सबसे निराला हूँ, स्वरूप ही मेरा ऐसा है कि मैं शुद्ध हूँ, मैं ही क्या समस्त पदार्थ शुद्ध हैं। शुद्ध का अर्थ है मुझमें दूसरे के स्वरूप की लगार नहीं आती। किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप किसी दूसरे पदार्थ में लगता नहीं है, अतएव स्वरूपदृष्टि से मैं शुद्ध हूँ।

मेरा ज्ञान स्वरूप—मेरी बोडी, जिसमें मैं बना हुआ हूँ, यह समस्त स्वरूप क्या है? एक ज्ञान। जैसे किसी चीज को जानने चलते हैं कि यह चीज बनी कैसे है? यह चौकी किस चीज से बनी है, यह पुस्तक किस चीज से बनी है, ऐसे ही अपने आपके बारे में निर्णय करें कि यह मैं आत्मा किस चीज से बना हूँ, क्या स्वरूप है? इन चर्मनेत्रों को बन्द करके और नेत्रोपम ज्ञान को, ज्ञाननेत्र को भीतर और दौड़ा करके देह की भी सुध न रहे, उसको नहीं परखना है और भीतर निरखे तो वहाँ सिवाय एक ज्ञान के और कुछ नहीं मिलता। इसमें और जितने भी गुण बताये जाते हैं आनन्द है, शक्ति है, श्रद्धान है, ज्ञान है, आचरण है, सूक्ष्म है, अमूर्त हैं वे सब इस ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए बताये गए हैं। वह ज्ञान किस प्रकार का है, वह मेरा स्वरूप किस प्रकार का है, उसकी प्रसिद्धि के लिए बताया गया है। वह निराकुल है, वह सूक्ष्म है, वह सब ज्ञान की विशेषता है। ज्ञान में और मुझमें भेद नहीं है। उस ज्ञानस्वरूप की ओर झुक करके कुछ अपने आपमें अपने स्वरूप का चिन्तन किया जाय तो इसे रोकता कौन है? लो इस भीतरी पुरुषार्थ के द्वारा यह ज्ञानी आत्मा अपने को मोक्षमार्गी बना रहा है। सदा के लिए संसार-संकटों से छूटने का उपाय कर रहा है।

जिनागम का सार वीतरागता की प्रेरणा—जिन आगम का सार इतना ही है कि जो मोह रागद्वेष करेगा वह संसार में फंसेगा और जो मोह रागद्वेष से दूर होगा वह मुक्ति के निकट जायेगा। बड़ी परेशानी है। शायद इतनी परेशानी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को न होती होगी क्योंकि उसका एक ही निर्णय है और वैसा ही आचरण है (हँसी) परपदार्थ मेरे हैं और उस ही में रागद्वेष का आचरण है, उनका क्लेश तो है कई गुणित, मगर इस जाति का क्लेश नहीं होता जिस जाति का क्लेश एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष को किसी पदवी में होता है कि पहुँचना तो है आत्मा में और कषायें झकझोर रहे हैं बाह्य की ओर ये कितनी प्रेरणा करके किस ओर ले जायेंगे। यह स्व और पर का तनाव और उस द्वन्द्व के बीच में यदि यह कोई ज्ञानी पड़ जाता है तो अपनी

दृष्टि से कह रहा कि हाय ! यह बड़ी विपदा है। जैसे स्वप्न में कोई उत्तम चीज निरखते हैं, उसे उठाने की कोशिश करने पर उठा नहीं पाते, बल्कि निकट है और फिर भी कुछ अपने आपमें कोई रोकने वाला भी नहीं है, पर क्या-क्या होता है कि उसको नहीं उठा पाते हैं, यों स्वप्न में वहाँ परेशानी अनुभव करते हैं। यह ज्ञानी पुरुष को आनन्द का निधान इसके बिल्कुल समक्ष है, पर कषायों की ऐसी प्रेरणा है कि उस प्रेरणा के कारण उस आनन्दनिधान में मग्न नहीं हो पाता है। यह एक बड़ी विपदा की बात है।

कर्तव्यकौशल्य का अनुरोध—भैया ! परवाह न करें, निर्णय एक बनायें कि यह जैनधर्म पाया है, जैनशासन का सुयोग बड़े ही सौभाग्य से मिलता है। जहाँ सत्य श्रद्धान, सत्यज्ञान और सत्य आचरण सिद्धान्तों में, प्रयोग में सबमें जहाँ सच्चाई की बात सिखाई गई है उस पर हम चलें और जो हमारे कर्तव्य बताये हैं देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, यथाशक्ति तपश्चरण, दान, इन कर्तव्यों में चलते हुए ज्ञानार्जन की ओर विशेष दृष्टि करते हुए अपने आपकी ओर झुकते रहें और सबसे निराले ज्ञानानन्द स्वरूप अपने आत्मा की प्रतीति बनाये रहें, ऐसा ध्यान ऐसा चिन्तन एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। इसमें जैसे-जैसे वृद्धि होती जायेगी कर्मों की निर्जरा भी वैसे-वैसे बढ़ती जायेगी। तो हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपनी ओर अधिक झुकें, अपने भीतर में अपने ज्ञान में अपने को अधिकाधिक लगायें।

श्लोक-197

ध्यानानलसमालोढमप्यनादि समुद्भवम्।

सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत्॥197॥

कर्म का अनादिबन्धन—इस जीव के साथ कोई चीज ऐसी अवश्य लगी हुई है जिसके निमित्त से जीव में ये असंख्यातों प्रकार की विभिन्न हालतें हो रही हैं। यदि जीव के साथ कोई दूसरी वस्तु न लगी होती तो जीव स्वयं अपने स्वरूप से असंख्यातों तरह का न बनता। कोई जीव पशु है, पक्षी है, मनुष्य है, कीट है, पतिंगा है और उनमें भी नाना तरह के कर्मफल हैं। मनुष्य भी कोई श्रीमन्त है, कोई दरिद्र है, कोई विशेष ज्ञान वाला है, कोई कम ज्ञान वाला है आदिक जो नाना भाव हैं। ये भेद इस बात को सिद्ध करते हैं कि जीव के साथ कोई चीज ऐसी लगी हुई है जिसका निमित्त पाकर जीव का विकार चलता रहता है। इसका नाम है कर्म। जो चाहे नाम रख लीजिए। नाम से कुछ फर्क नहीं आता। चीज बताना है। तो जीव के साथ कर्म लगे हैं और यह कर्म कब से लगे हैं? इसकी कोई सीमा नहीं रख सकते। यदि कहेंगे कि अमुक दिन से जीव के साथ कर्म लगे हैं। तो उस दिन से पहिले क्या जीव के साथ कर्म न थे? अगर न थे तो इसका अर्थ यह है

कि जीव पहिले कर्मरहित था, शुद्ध था, मुक्त था तो जो जीव पहिले शुद्ध था, फिर उसके साथ कर्म लगने का कारण क्या? इससे यह सिद्ध है कि जीव के साथ कर्म लगे हैं और वे अनादिकाल से लगे हैं। अनादिकाल से लगे हुए कर्मों के कारण जीव के साथ सुख दुःख जन्म-मरण असंख्याते तरह की हालतें हो रही हैं।

वर्तमान परिस्थिति पर निर्णय—जीव की वर्तमान परिस्थिति है ऐसी कर्मकलीमसा। अब यहाँ सोचो कि ऐसी परिस्थिति ही अपनी बनाये रहना है या कुछ परिवर्तन करना है। जीव के साथ कर्म लगे हैं और उनके उदय से सुख दुःख चलते हैं, जन्म-मरण चलते हैं, ऐसी स्थिति क्या आपको प्रिय है? प्रिय नहीं है। कोई सुख भी हो जाय, इन्द्रियज सुख के साधन भी जुड़ जायें तो भी चूँकि वह शाश्वत नहीं है, सदा नहीं रहता और पराधीन है तथा वह सुख भी जीवों के विरोधविकार को ही उत्पन्न करता रहता है। इस कारण वह भी हेय है तो कर्म सहित स्थिति पसंद न होना चाहिए। यह भीतर से इच्छा जगनी चाहिए कि मेरी कर्मरहित स्थिति बने। लेप न चाहिए, बोझ न चाहिए। मैं निर्भार केवल अपने स्वरूपमात्र रहूँ ऐसी इच्छा जगनी चाहिए। निर्भार केवल अपने स्वरूपमात्र जो रह रहे हैं उसका नाम है परमात्मा, मुक्त जीव, इनके कोई भार नहीं। यहाँ ममता लगी है, रागद्वेष चल रहे हैं। किसे अपना मान रखा? हैं सब भिन्न जीव, पर किसी को माना कि यह मेरा है और उसके अलावा औरों को माना कि ये गैर हैं, यह अज्ञान का अँधेरा है। जब देह तक भी अपना नहीं है तो किसी अन्य जीव को अपना कहना, अपना बनाने की कोशिश करना, ये सब अज्ञान की बातें हैं। इन कर्मों में लगे रहने से हम आपको लाभ की बात कुछ नहीं मिलती। बरबादी ही बरबादी है।

कर्मों के दूर करने का यत्न—इन कर्मों को दूर कैसे किया जाय? इसका क्या यत्न ठीक है, इस पर विचार करें तो मोटे रूप में यह बात निर्णय में मिलेगी कि ये कर्म कैसे लगे? जैसे लगे हों उससे उल्टा काम करने लगे कर्म टल जायेंगे। ये कर्म लगे हैं कषायें करने से। कषायें न करें, कर्म टल जायेंगे। ये कर्म लगे हैं मोह बसाने से, मोह न करें, कर्म टल जायेंगे। मोह और कषायें उत्पन्न न हों, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम सबका सही-सही ज्ञान करें और उसमें हम अपना जैसा स्वरूप पायें बस उसही स्वरूप में उपयोग लगायें, मग्न रहें। इस स्थिति का नाम है ध्यान। ध्यानरूपी अग्नि का स्पर्श हो जाय तो ये अनादिकाल के लगे हुए कर्म बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जैसे कि पहाड़ बराबर ईंधन का ढेर भी रखा हो और उसमें अग्नि का स्पर्श करा दिया जाय तो बहुत ही शीघ्र इतने बड़े पहाड़ को भी यह अग्नि जला देगी।

वर्तमान में कर्मों का ढेर और उससे छुटकारा—इस जीव के साथ अनादि काल से परम्परया कर्म चले आ रहे हैं और आज इतने कर्म हम आपके साथ जुड़े हुए हैं। संभव है ये कर्म अनगिनतें भावों के लगे हुए हों। 48 मिनट में 66366 बार जन्म मरण हो सकता है जीव का। निगोद भव में जब यह जीव था तो इसका 48 मिनट 66366 बार जन्म मरण हुआ। तो एक दिन रात में ही लगा लो कितने बार जन्म हुआ। करीब

बीस लाख बार हो जायेगा। कोई निगोद जीव एक वर्ष भी रहा हो तो कितना लाख हो जायेगा, करीब तीस करोड़ बार जन्म हो जायेगा। और कर्म जो इसके बंधे हैं या निगोद होने से पहिले बंधे हैं वे कर्म अब तक हम आपके साथ संभव हो सकते हैं। तो अनगिनते जन्मों में बांधे हुए कर्म आज भी हम आपके साथ हैं। इतना तो यह ढेर है कर्मों का। किन्तु आत्मा में ध्यानरूपी अग्नि का स्पर्श हो जाय तो इतना बड़ा ढेर भी शीघ्र नष्ट हो जाता है और फिर कर्मों के नष्ट होने पर यह जीव शुद्ध हो जाता है। जैसे स्वर्ण में अग्नि का स्पर्श होने पर स्वर्ण की किट्ट और कालिमा (कलंक) दूर हो जाती है इसी प्रकार अनादिकाल से चले आये हुए कर्मों से मलिन यह आत्मा यदि अपना ध्यान करे तो उस ध्यान के प्रसाद से अनादिसिंचित परम्परा से चले आये हुए कर्म शीघ्र खिर जायेंगे। और यह आत्मा अग्निपत स्वर्ण की तरह निर्दोष निर्लेप निरञ्जन निष्कलंक हो जायेगा। यह है स्थिति हम आपके आनन्दमय होने की।

निर्मोहता से ही सफलता—भैया ! जीवन में यदि जैनधर्म का संयोग पाया, धार्मिक वातावरण पाया, शरीर भी निरोग पाया, आजीविका भी स्थिर पायी तो इसमें सफलता इस बात की है कि यह जीव बाहरी पदार्थों का मोह त्यागकर भले ही वे सब निकट लगे हुए हैं, पर रुचि न रखकर, रुचि रखे बिना आत्मस्वरूप की, ज्ञानस्वरूप की सहज चेतनारूपी जो अपना स्वरूप है उसकी प्रतीति रखा करे, इससे ये दुर्लभ पाये हुए समागम सफल हो जायेंगे। इसके विपरीत याने बाह्य पदार्थों की आदेयता का जरा विचार भी न करें।

धन प्रसंग से अलाभ—धन इकट्ठा करना है तो मान लो हो गया इकट्ठा, एक घर में बहुत सा जमा हो गया अब यह बतलाओ कि उस धन के जमा हो जाने से इसे सुख शान्ति क्या आयी, बल्कि विकल्प बढ़ेंगे। जितना धन जुड़ेगा, परिग्रह जुड़ेगा उतने ही विकल्प बढ़ेंगे। उसकी रक्षा करना, उसकी वृद्धि करना, अपने से और बड़ों को देखकर इच्छा ऐसी होना कि अभी मैं कुछ नहीं हूँ, मैं इनके बराबर हो जाऊँ, दसों प्रकार की आफतें विडम्बनाएँ लग जायेंगी। तो धन इकट्ठा रखा जाने से लाभ क्या पा लिया जायेगा?

यशप्रसंग में अलाभ—लोगों की अन्तर में भावना यह रहती है कि मेरा नाम, यश लोगों में बहुत-बहुत फैल जाय। मान लो फैल गया। यश के मायने क्या कि बहुत से लोग कभी-कभी इसका नाम ले लें, अमुक बड़ा अच्छा है, इतनी सी बात बने इसका ही तो नाम यश है। यश में और क्या रखा है? यश से कहीं पेट भी नहीं भरता, यश से कहीं शान्ति भी नहीं मिलती, यश कोई आनन्द का साधक नहीं है। यश में दृष्टि फंसाने से जीव में मलिनता ही रहती है। तो क्या तत्त्व निकला यश से? जरा से यश के लिए जीवन भर संकल्प विकल्प किए जायें, दूसरों की पराधीनता सही जाय। उस यश से भी जीव को क्या सिद्धि हुई? कौन-कौन सी ऐसी बातें हैं जिनको आप चाहा करते हैं, उन सबके सम्बन्ध में खूब सोच लो।

राज्यप्रसंग से अलाभ—यह भी चाहते हैं लोग कि मैं कोई राज्य कर अधिकारी बन जाऊँ। मान लो बन गए अधिकारी, बन गए राजा तो राज्य के अधिकारी बनकर भी लाभ क्या पा लिया जायेगा? खूब सोच लो,

बल्कि क्लेश ही होगा। किसी नगर का राजा गुजर गया तो मंत्रियों ने सोचकर कुछ ऐसी बात रखी—मान लो हाथी की सूँड में माला लटकी दी, यह हाथी चल फिर कर जिसके गले में माला डाल दे उसे राजा बना दें। सो उस हाथी ने एक लकड़हारे के गले में माला डाल दी। जो लकड़ी ढो-ढोकर खेद खिन्न रहा करता था। अब क्या था, वह लकड़हारा राजा बना दिया गया। अब 10-5 दिनों के बाद वह लकड़हारा राजा जब उठे तो मंत्रियों के कंधे पर हाथ धर कर उठे, तो मंत्रियों ने पूछा—महाराज आप तो लकड़ियाँ ढोते थे और अब 10-5 दिन में ही क्या हो गया कि आप खुद उठ भी नहीं सकते, मंत्रियों के कंधों का सहारा लेकर आप उठते हैं? तो वह राजा बोला—ऐ मंत्रियों ! पहिले तो मेरे ऊपर लकड़ियों का ही बोझ रहता था, लेकिन अब मेरे ऊपर सारे राज्य का बोझ है। हममें अब वह शक्ति नहीं रही कि अपने सहारे उठ सकें। सो राजपाट भी आ जाय पल्ले तो उससे जीव को सिद्धि क्या होगी?

आत्मधर्म में ही हित—एक अपने आत्मा के ज्ञान और धर्म के अतिरिक्त अन्य सब बातों में कल्पनाएँ करते जाइये, जो बात इष्ट हो, मान लो मिल गया वह सब, तो उससे भी इस जीव का क्या हित है? ये सब समागम प्यार करने योग्य नहीं हैं, इनसे अपेक्षा रखकर अपने आत्मा का जो स्वरूप है, जो प्रभु की तरह है उस स्वरूप का आदर करें, उस स्वरूप में मग्न होने का यत्न करें, यह तो भले उपाय की बात है। ऐसा न करके बाहरी पदार्थों में ही मन जुटाये रहते हैं तो वह कल्याण का उपाय नहीं है।

श्लोक-198

तपस्तावद्वाह्यं चरति सुकृति पुण्यचरित-स्ततश्चात्माधीनं नियतिविषयं ध्यानमपरम्।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम्॥ ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम्॥198॥

शान्ति का ज्ञान से सम्बन्ध—मुक्ति का उपाय रचने वाला भव्य जीव क्या-क्या करता है जिससे उसकी निर्मलता बढ़ती और उस निर्मलता के कारण मुक्ति प्राप्त की जाती है। क्या करते हैं ज्ञानीजन? सबसे पहिली बात तो ज्ञान की है। जिसके अज्ञान दशा है उसके जगह-जगह विपदायें हैं, ठोकरें हैं और जिसके ज्ञान है उसके किसी कारण दरिद्रता भी आ जाय, अन्य संकट भी आ जायें तो भी वह अपने अन्तरङ्ग में व्याकुल न होगा। सुख का सम्बन्ध ज्ञान से है। बाहरी वैभव से सुख शान्ति का सम्बन्ध नहीं है। इन समस्त विडम्बनाओं का फर्क इससे ही हो आया कि लोग बाह्य आडम्बर और वैभव से सुख शान्ति मानते हैं पर सुख शान्ति है ज्ञान से। तो सर्वप्रथम ज्ञान तो होना ही चाहिए, जिसके बिना हम मोक्षमार्ग में प्रगति नहीं कर सकते। इतना ज्ञान होने के बाद अब इसका आचरण कैसा होना चाहिए? इस आचरण का वर्णन इस छंद में किया गया है।

करणीय आचार और ध्यान—पहिले तो यह ज्ञानी जीव बाह्य तपश्चरण का आचरण करे, उपवास करना, कम खाना आदिक बाह्य तपश्चरणों का आचरण करे, पश्चात् फिर वह आभ्यंतर तप का आचरण करे, जैसे अपने दोषों का निरखना, उन दोषों का प्रायश्चित्त लेना, स्वाध्याय में प्रवृत्ति रखना आदि जो आभ्यंतर तप हैं उन तपों का आचरण करें और फिर उन आभ्यंतर तपों में जो उत्कृष्ट तप है ध्यान, जिसके बिना कोई मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता इसकी पूर्ण साधना करें। इन 12 तपों में से अन्य तप चाहे कम भी रह जायें तो भी जीव को मुक्ति हो सकती है, किन्तु ध्यान नाम का तप ऐसा है कि जिसके बिना कोई मुक्ति नहीं हो सकता। पुराणों में कथानक आया है कि भरत जी को कपड़ा उतारते-उतारते ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तो यह लोगों को दिखता है, सुना है, पर आत्मध्यान तो उनके भी हुआ था जिसके प्रसाद से शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त किया। तो इन अन्तरंग तप में प्रधान तप है ध्यान, ध्यान के प्रसाद से कर्म नष्ट होते हैं।

कल्याण का स्वाधीन उपाय—देखो भैया ! कितनी सुगम बात बतायी गई है? केवल ध्यान बदलना है कि लो सब कुछ प्राप्त कर लिया। कुछ इसमें कष्ट की बात भी नहीं कही गयी, कोई बड़ी तपस्या की बात नहीं है केवल एक ध्यान बदल लें, देह से न्यारा ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसा अपना निर्णय कर लें और फिर उस ज्ञानस्वरूप में ही अपनी दृष्टि बनाये रहें, सिद्धि होगी। तो पहिले तो ज्ञानीपुरुष ज्ञानार्जन करे, फिर बाह्य तप भी करे, आभ्यंतर का आचरण करे, इसके पश्चात् अन्तरंग तप का आचरण करे, इसके बाद स्वाधीन नियम विषय वाले उत्कृष्ट आत्मध्यान को बनाये। अन्य पदार्थों पर ध्यान जायेगा तो सैकड़ों तरह के विकल्प बनेंगे। उस ध्यान का रूप भी सैकड़ों प्रकार का बनेगा और एक आत्मा के ध्यान में लगे तो एक ही प्रकार का ध्यान होगा। जितने साधु संतजन हुए हैं उन सबका एक ही ध्यान जब आत्मध्यान चल रहा होगा तो ठीक सबका एक ही प्रकार का अपना ध्यान चल रहा होगा। ध्यान के भेद बाह्यध्यानों में तो हैं पर आत्मध्यानों में ध्यान का भेद नहीं है। वह तो सबका एक ही प्रकार का है। तो कर्तव्य यह हो कि हम ध्यान नामक तत्त्व को महत्त्व दें और यथाशक्ति उस तपश्चरण में लगें, इस तप से चिरकाल से इकट्ठा किए हुए कर्मपटल नष्ट हो जाया करते हैं। जब कर्म दूर हो गये तो यह आत्मा उत्कृष्ट आनन्द के घर में प्रवेश करेगा अथवा निज ज्ञानरूपी समुद्र में प्रवेश करेगा। यों यह आत्मा सम्यग्दर्शन करे, सम्यग्ज्ञान करे, सम्यक्आचरण करे तो इस रत्नत्रय के प्रसाद से यह उन्नति करता करता मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रभुभक्ति की पद्धति—अच्छा, अब जरा एक मोटी सी बात सुनो—आप जिस भगवान के दर्शन करते हैं, जिस भगवान की मूर्ति की स्थापना करके आप पूजन करते हैं, क्या चित्त में कभी यह बात भी उठाई कि स्वरूप तो यह है, आनन्दमय स्थिति तो यही है, हमें भी ऐसा ही होना चाहिए तब सुख शान्ति मिलेगी। ऐसी अपने अन्तरंग की आवाज मन में प्रभुमूर्ति के दर्शन करते समय उठाई गई क्या? भगवान के दर्शन तो करते जा रहे पर बढ़िया मानते जा रहे अपने को ही तो भगवान का क्या दर्शन किया? अभिमान तो ज्यों का त्यों बना रहे, मानो उसने दर्शन भी एक अभिमान की बात को करने के लिए किया है, तो वहाँ भी यदि शुद्ध ध्यान रहे तो

दर्शन का लाभ है, पूजन का लाभ है और केवल अपनी स्वार्थपूर्ति की आशा से ही प्रभुभक्ति की तो वह प्रभुभक्ति नहीं है।

संवरपूर्वक निर्जरा से श्रेयोलाभ—यह निर्जरा तत्त्व का प्रकरण है। इसमें यह बात दिखायी है कि देखो जीव का और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से लगा है। जब कभी काललब्धि आये तो जिस काल में इस जीव को सम्यक्त्व प्रकट होगा वह काल आये और यह अपने स्वरूप को संभाले, तपश्चरण करके ध्यान में तल्लीन हो तो इस जीव के कर्मबन्धन रुक जाता है और जब नवीन कर्म न आये और तपश्चरण सही जारी चल रहा है तो पूर्वबद्ध हुए पुराने कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं तो संवर हुआ अर्थात् नवीन कर्मों का आना रुक जाय और अपने परिणामों से पूर्व में बांधे गए कर्मों का क्षय कर दिया जाय तो इसमें ही मुक्ति की अवस्था प्रकट होती है। हमें यदि मोक्ष चाहिए, निराकुलता चाहिए तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूप को सही रूप में जाने और इस ही रूप में मग्न होने का उपाय रचे, यही एक सही काम करने को पड़ा हुआ है। मोह ममता में, रागद्वेष में, क्षोभ में, झगड़े में इन बातों को करके ऊबते रहने में कोई तत्त्व की बात न मिलेगी, कोई सार की बात न होगी। यह दुर्लभ नर-जीवन खोया हुआ समझिये। इस रत्नत्रय की आराधना हो, रागद्वेष मोह दूर हों तो हम आनन्द की स्थिति पा सकते हैं।

-ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग समाप्त-